साहित्य

साहित्य

मूल लेखक

श्रीयुत रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अनुवादक

प० वंशीधर विद्यालङ्कार,

प्रोफेसर

उस्मानिया कॉलेज, औरंगाबाद

प्रकाशक—

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर-कार्यालय, बम्बई

मार्गशीर्ष संवत्, १९८६ वि०

दिसम्बर, सन् १९२९ ई०

मूल्य बारह आने

सजिल्दका सवा रुपया

प्रकाशक—

नाथूराम प्रेमी,

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय,

हीराबाग, पो० गिरगांव-बम्बई.

मुद्रक—

मं० ना० कुळकर्णी,

कर्नाटक प्रेस,

३१८ए, ठाकुरद्वार, बम्बई २.

रवि बाबूके अन्यान्य ग्रन्थ

हिन्दी-ग्रन्थ-रत्नाकरमें इस महाकविके नीचे लिखे ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—

१ प्राचीन साहित्य—जगत्प्रसिद्ध कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुरके प्राचीन साहित्यसम्बन्धी निबन्धोंका अनुवाद । इसमें १ रामायण, २ धम्मपद, ३ कुमारसंभव और शकुन्तला, ४ शकुन्तला, ५ मेघदूत, ६ कादम्बरीचित्र, ७ काव्यकी उपेक्षिता ये सात निबन्ध हैं और उनमें उक्त प्राचीन ग्रन्थोंकी अपूर्व तथा विलक्षण आलोचनायें की गई हैं । दूसरा संस्करण । मू० ॥~)

२ राजा और प्रजा—राजनीतिसम्बन्धी अपूर्व लेख । सब मिलाकर ११ लेख हैं—१ अँगरेज और भारतवासी, २ राजनीतिके दो रुख, ३ अपमानका प्रतिकार, ४ सुविचारका अधिकार, ५ कण्ठरोध, ६ अत्युक्ति, ७ इम्पीरियलिज्म, ८ राजभक्ति, ९ बहुराजकता, १० पथ और पाथेय और ११ समस्या । हिन्दीके राजनीतिक साहित्यमें यह एक अपूर्व चीज है । ये निबन्ध अध्ययन और मनन करनेके योग्य हैं—केवल पढ़ डालनेके नहीं हैं । दूसरा संस्करण । मू० १), सजिल्दका १॥) रु० ।

३ शिक्षा—इसमें शिक्षाविषयक,—१ शिक्षा-समस्या, २ आवरण ३ शिक्षाका हेरफेर ४ शिक्षा-संस्कार और ४ छात्रोंसे संभाषण,—ये पाँच निबन्ध हैं । निबन्ध बड़े ही महत्त्वके हैं । इन्हें पढ़कर पाठक जान सकेंगे कि हमारी वर्तमान शिक्षापद्धति कैसी है, स्वाभाविक शिक्षापद्धति कैसी होती है, कैसी शिक्षासे बुद्धिविकाश और चरित्रविकाश होता है, अँगरेजी भाषाकी शिक्षासे हमारे बच्चोंकी क्या दुर्दशा होती है, और अब हमें कैसी शिक्षाका प्रचार करना चाहिए । दूसरी आवृत्ति । मू० ॥~)

४ स्वदेश—१ नया और पुराना, २ नया वर्ष, ३ भारतका इतिहास, ४ पूर्वीय और पाश्चात्य सभ्यता, ५ ब्राह्मण, ६ समाजभेद, ७ देसी रजवाड़े और ८ धर्मबोधका दृष्टान्त, ये आठ निबन्ध इस पुस्तकमें हैं । अपने देशका असली स्वरूप समझनेवालोंको, उसके अन्तःकरणतक प्रवेश करनेकी इच्छा रखनेवालोंको तथा पूर्व और पश्चिमका अन्तर हृदयंगम करनेके लिए उत्कण्ठित विद्वानोंको ये निबन्ध अवश्य पढ़ने चाहिए । चौथी आवृत्ति । मू० ॥≈) जिल्ददारका १≈)

५ **आँखकी किरकिरी**—मूल लेखकके चित्र, चरित्र और ग्रन्थालोचन-सहित। हिन्दीमें तो क्या अँगरेजी फ्रेंच जैसी प्रौढ भाषाओंमें भी इसकी जोड़का कोई उपन्यास नहीं। मनुष्यके आन्तरिक भावचित्रोंका, उनके उत्थान पतन और घात-प्रतिघातोंका इसमें बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। ग्रन्थकारमें जो मनुष्य-स्वभावका गंभीर ज्ञान है और उस स्वभावके ज्योंके त्यों चित्र खड़े कर देनेका जो विलक्षण कौशल है उससे यह उपन्यास बहुत ही मनोवेधक बन गया है। चौथी आवृत्ति। मू० १॥), राजसंस्करणका २॥)

६ **समाज**—इसमें आठ निबन्ध हैं—१ आचारका अत्याचार, २ समुद्र-यात्रा ३ विलासकी फाँसी, ४ नकलका निकम्मापन, ५ प्राच्य और प्रतीच्य, ६ अयोग्य भक्ति, ७ पूर्व और पश्चिम, ८ चिट्ठी पत्री। ये सब निबन्ध ऐसे हैं कि इनकी उपयोगिता कभी नष्ट नहीं हो सकती। इन निबन्धोंके लिए हम यह नहीं कह सकते कि ये पुराने हो गये हैं। हिन्दीमें समाज-शास्त्रपर विचार करनेवाली यही एक गणणीय पुस्तक है। मू० ॥।≈)

७ **मुक्तधारा**—कविवरका एक बिल्कुल नया नाटक। इसमें व्यक्तिगत, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय समस्याओंपर एक नये ही ढंगसे प्रकाश डाला गया है। इसका मुख्य पात्र बिल्कुल महात्मा गाँधीसे मिलता जुलता है। प्रारंभमें अनुवादककी ३२ पेजकी एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका है, जिससे नाटकका अभिप्राय समझनेमें सहायता मिलती है। मू० ॥≋) सजिल्द १≈)

८ **चिर-कुमार-सभा**—इस दो सौ पृष्ठोंसे ऊपरके प्रहसनमें कालेजके कुछ ऐसे जोशीले विद्यार्थियोंकी वाक्य-वीरताका खाका खींचा गया है जिन्होंने चिरकाल तक ब्रह्मचारी रहकर देशसेवा करनेकी प्रतिज्ञा करके एक सभा स्थापित की है। ये अनुभवहीन छोकरे धीरे धीरे रूप आर सौन्दर्यके जालमें किस तरह अपने आप फँसते गये हैं और अन्तमें अपनी चिरकुमार-सभाको किस तरह के डूबे हैं, यही इसमें बतलाया गया है। पुस्तककी पंक्ति पंक्तिसे हँसी-दिल्लगी और व्यंग-कटाक्षोंके फौव्वारे छूटते हैं। मूल्य १।), राजसंकरण २)

नोट—हमारे यहाँ इस प्रकारकी नामी नामी लेखकोंकी लिखी हुई सैकड़ों पुस्तकें मिलती हैं। एक कार्ड लिखकर बड़ा सूचीपत्र मँगा लीजिए।

संचालक—**हिन्दीग्रन्थरत्नाकर कार्यालय,**
हीराबाग, गिरगाँव, बम्बई।

प्रारम्भिक शब्द

महाकवि भवभूतिने वाणीको, कविताको, अर्थात् साहित्यको 'आत्माकी कला' कहा है*। वास्तवमें इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जिस किसी वस्तुकी 'सृष्टि' करता है, जिस किसी वस्तुको ऐसे रूपमें उपस्थित करता है कि वह सम्पूर्ण रूपसे 'पूर्ण' प्रतीत हो, संपर्क होते ही वह एक इस प्रकारके अवर्णनीय आनन्दको उल्लासित कर दे, जो अपनेमें कभी समाता ही न हो, जहाँ मूर्तिमान् दुःख और करुणा भी आनन्दके रूपमें ही परिणत हो जायँ, वह सब 'आत्माकी ही कला' है।

काव्यका लक्षण जो कि साहित्यदर्पणकारने किया है और जो कि अत्यन्त प्रसिद्ध है, वह है 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् रसात्मक, रसमय वाक्यका नाम ही काव्य है। अन्ततः इस रसकी प्रतीति कहाँ होती है? जो वस्तु सचमुच मनुष्यके द्वारा 'सृष्ट' होती है, जो वस्तु 'अनुकरण'के रूपमें नहीं किन्तु अपने ही अलौकिक रूपमें एक पुष्पके समान हृदयके समस्त रसको खींचकर उद्भूत होती है, वह रसमय न प्रतीत हो, वह 'सत्त्वका उद्रेक' करके अपने 'प्रकाश, आनन्द और चिद्रूपता'से दूसरेको अपने इस रूपके साथ एकाकार न कर ले, यह हो ही नहीं सकता।

यदि साहित्य या कलाको आत्माका कुसुम कहा जाय तो उपयुक्त होगा। जिस प्रकार एक फूल अपने वृक्षके समस्त रसको अपने अन्दर आकर्षित

* वन्देमहि च तां वाणीममृतामात्मनः कलाम्।—उत्तररामचरित।

करके एक नवीन, उज्ज्वल आह्लादमय पूर्ण रूपमें विकसित हो उठता है, ठीक उसी प्रकार साहित्य या कला भी मनुष्यके हृदयके समस्त रसको अपने अन्दर आकृष्ट करके एक नवीन, उज्ज्वल, और आह्लादमय पूर्ण रूपमें विकसित हो उठती है। अन्ततः जिस प्रकार एक फूल अपने वृक्षके रसको छोड़कर मूलमें और कुछ नहीं है, ठीक उसी प्रकार 'कला' या 'साहित्य' भी मूलमें मनुष्यके हृदयके रसके सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है।

इससे यह समझा जा सकता है कि 'सृष्टि'से हमारा क्या अभिप्राय है। हमारा 'सृष्टि' कहनेसे तात्पर्य है 'हृदयके रसका विकास'। 'हृदयके रस' का तात्पर्य है 'मनुष्यका साक्षात् अनुभव'। जिन वस्तुओंको मनुष्य अपने अन्दर ऐसी तीव्रतासे अनुभव करता है कि वे अपनेको अपने उसी अनुभवके रूपमें स्वयमेव प्रकाशित किए बिना रहती ही नहीं, उन्हींके प्रकाशमय विकासको ही 'सृष्टि' कहते हैं।

यहाँ 'पूर्णरूप' कहनेका भी विशेष अभिप्राय है। जिस प्रकार कविता या कलाके विषयमें यह कहा जाता है कि कविता कविताके लिए (Poetry for the sake of poetry.) और कला कलाके लिए (Art for the sake of art.) ही है, वैसे अन्य विषयोंके लिए नहीं कहा जाता। कई विचारक इसका यह तात्पर्य समझते हैं कि कविताका उद्देश्य कविता और कलाका उद्देश्य कला ही है। लेकिन इतनेसे आशय स्पष्ट नहीं होता। इसका तात्पर्य यदि स्पष्टतया संक्षेपमें कहा जाय तो यह है कि सच्ची कविता या सच्ची कला अपनेमें स्वत एव पूर्ण होती है। वह जब अनुभूत होती है, तब चारों ओर अपने ही एक नए संसारकी सृष्टि कर लेती है, जहाँ वही एक मात्र प्रकाशित होती है, वहाँ किसी प्रकारकी रिक्तताका अनुभव नहीं होता।

यहाँ 'पूर्णता'का यह भी तात्पर्य है कि उसके अन्दर किसी प्रकारका परिवर्त्तन, संशोधन या 'इसलाह' नहीं हो सकता। सच्ची कविता जिस रूपके अन्दर प्रकाशित होती है, वही उसका अपना रूप होता है। वह उस रूपसे किसी प्रकार अलग नहीं की जा सकती। वहाँ शब्द और अर्थका ऐसा सम्पूर्ण सम्बन्ध होता है कि एकको हटा देनेसे वह अर्थ ही नहीं रहता।

महाकवि कालिदासने शब्द और अर्थके पारस्परिक सम्बन्धको महादेव और उमाके सदृश नित्य-एक-रस रहनेवाले सम्बन्धसे उपमा दी है *। इसी बातको एक पाश्चात्य साहित्यिक विद्वान् ए० सी० ब्रेडलेने अपने ऑक्सफोर्डके कविता-विषयक व्याख्यानमें × बड़ी मार्मिकतासे इस प्रकार कहा है—

This is also the reason why if we insist on asking for the meaning of such a poem we can only be answered 'It means itself.'

इसका यह भी एक कारण है कि जब हम इस बातकी जिज्ञासा करते हैं कि इस प्रकारकी (सच्ची) कविताका क्या अर्थ है, तो हमें इसका एक मात्र यही उत्तर दिया जा सकता है कि "इसका तात्पर्य यह स्वयं ही है।" अर्थात् यह वस्तु क्या है, इसको किन्हीं अन्य शब्दोंमें बतलाया ही नहीं जा सकता। इसके स्वरूपको बतलानेके लिए तो एक मात्र वही शब्द हो सकते हैं, जिनको कविने अपनी कवितामें कहा है। इसलिए इस कविताका क्या तात्पर्य है, इसकी व्याख्या हम चाहे कितने ही अन्य शब्दोंद्वारा क्यों न कर लें, उसकी कितनी ही टीकाएँ क्यों न कर डालें; किन्तु कविताके स्वरूपको यथार्थ रीतिसे समझनेके लिए तो उन्हीं शब्दोंको प्रयोगमें लाना पड़ेगा जिनको कि मौलिकरूपसे कविने लिखा है। इस ऊपरके उद्धरणसे 'कविता कविताके लिए ही है' इसका आशय भी अच्छी तरह समझमें आ सकता है। इसी बातको कविवर रवीन्द्रनाथने 'साहित्यकी सामग्री' निबन्धमें इस प्रकार लिखा है:—

"......उसके (ज्ञानके) विषयको लेकर नाना प्रकारके लोगोंमें नाना भाषाओंद्वारा अनेक प्रकारसे प्रचारित किया जा सकता है—इसी प्रकार उसका उद्देश्य यथार्थ रूपसे सफल हुआ करता है।

किन्तु भावोंके विषयमें यह बात नहीं हो सकती। वे जिस मूर्त्तिका सहारा लेते हैं, उससे फिर अलग नहीं हो सकते।

(पृष्ठ ११)

---

* वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।—रघुवंश।

× Oxford Lectures on Poetry—by. A. C. Bradley.

अपनी पूर्णताके कारण ही साहित्य और कला जिस प्रकारके आनन्दका उद्रेक करते हैं वह 'अखण्ड' होता है, परिपूर्ण होता है।

प्रस्तुत पुस्तकमें महाकविने 'साहित्य'के इसी वास्तविक स्वरूपको दिखलानेका प्रयत्न किया है। 'मनुष्यके हृदयका रस' किस प्रकार साहित्यके रूपमें परिवर्तित हो जाता है, इस बातको उन्होंने अपने निबन्धोंमें नाना प्रकारसे अभिव्यक्त करनेका प्रयत्न किया है। उनकी विषय-विवेचनकी शैली इतनी मार्मिक, व्यापक, गम्भीर और सरस है कि लेखककी प्रतिभाकी सूक्ष्मतापर मुग्ध होना पड़ता है। उन्होंने साहित्यके आन्तरिक स्वरूपको खोल कर रख दिया है।

जिस प्रकार एक अच्छा व्याख्याता अपना व्याख्यान देते हुए अपने हृदयके बहुतसे आन्तरिक निगूढ़ भावोंको जिन्हें वह अपनी वाणीद्वारा अभिव्यक्त नहीं कर सकता, कई प्रकारके इशारोंसे अभिव्यक्त करता है; उसी प्रकार एक लेखक भी अपनी अन्तरतम, रहस्यमयी तथा अत्यन्त गम्भीर भावनाओंको एक मात्र इङ्गितोंसे ही प्रकट करता है। व्याख्याता तो अपने हाथ, आँख तथा शरीरकी विचित्र भङ्गियोंसे अपने हृदयके भावोंको किसी न किसी प्रकार प्रकाशित कर ही लेता है और लेखककी तो भाषा ही ऐसा रूप धारण कर लेती है कि बहुत सी जगह उसमें इतनी व्यञ्जनाएँ ओतप्रोत हो जाती हैं कि वहाँ अर्थका निर्णय करना ही कठिन हो जाता है। कहते ही हैं कि कवियोंकी एक बातमें हजारों बातें होती हैं; उनकी बात एक तरुणीकी दोनों ओरसे नोकदार, बड़ी आँखोंसे कुछ कम सुन्दर और चतुराई-भरी नहीं होतीं।

जिन्होंने कभी कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुरको व्याख्यान देते हुए देखा है, वे इस बातको अच्छी तरह अनुभव कर सकते हैं कि उनकी व्याख्यानशैली तथा लेखनशैलीमें बहुत अन्तर नहीं है। जिस प्रकार वे ऊपरसे आधे झुककर, अपने दोनों हाथोंकी गति तथा अपनी वाणीको एक नैसर्गिक उदात्त तथा अनुदात्त स्वरोंके अन्दर प्रवाहित करते हुए अपने हृदयकी भावनाओंको अन्य हजार भावनाओंके साथ मिलाकर अभिव्यक्त करते हैं, ठीक उसी प्रकार उनकी भाषामें भी वही हिलते हुए हाथ, वही उत्थान-पतनका प्रवाह दिख-

लाई देता है। भेद इतना ही है कि वहाँ आँखें बहुत कुछ स्वयं देखकर इङ्गितार्थोंको कुछ न कुछ समझ लेती हैं और लिखनेमें तो इन इशारोंका अर्थ समझना भी दुरूह होता है।

जिस विषयका अच्छी प्रकार विश्लेषणात्मक विवेचन करना हो, उसकी भाषा स्पष्ट, सादी और सीधी (Simple and Direct) होनी चाहिए, नहीं तो उसका रूप अच्छी तरह समझमें नहीं आ सकता। कविवर रवीन्द्र-नाथकी भाषा सादी तो है, लेकिन सीधी नहीं है। वह अत्यन्त बाँकी है, वह बहुत अधिक इशारोंसे ओतप्रोत है। इन इशारोंके कारण अर्थभेद होना स्वाभाविक है। अन्ततः समझनेवालेको अपनी कल्पनासे ही तो काम लेना पड़ता है। उन्होंने साहित्यको साहित्यके रूपमें ही उपस्थित किया है। हमारे कथनका यह तात्पर्य नहीं है कि उन्होंने अपने वक्तव्य विषयको स्पष्ट नहीं किया है। उन्होंने अपनी ओरसे तो उसके स्पष्ट करनेमें कोई कसर नहीं की है; किन्तु जिस प्रकार संगीतमें एक गानके तात्पर्यको ध्वनि, ताल आदि और भी गम्भीर रूपमें उपस्थित कर देते हैं, उसी प्रकार उनकी शैली भी ऐसी ही है कि कई स्थानोंपर विषयको और भी गम्भीर बना देती है। उन्होंने साहि-त्यके दार्शनिक रूपके साथ उसके वैज्ञानिक रूपको मिलाकर प्रदर्शित किया है। इसमें सन्देह नहीं है कि विषयकी गहनताके कारण उन्होंने एक बातको कई वार भिन्न भिन्न प्रकारसे कहा है; किन्तु वह केवल विषयको स्पष्ट करनेके लिए ही, दुहरानेके लिए नहीं।

यदि पाठक इन निबन्धोंको ध्यानसे पढ़ेंगे तो उन्हें स्पष्टतया यह प्रतीत होगा कि उन्होंने अपनी साहित्यविषयक स्थापनाओंकी स्थान स्थानपर व्याख्या की है। सौन्दर्यबोध, विश्वसाहित्य, सौन्दर्य और साहित्य तथा साहित्य-सृष्टि इन चारों निबन्धोंमें उन्होंने अपने वक्तव्य विषयको विस्तारके साथ स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। पहले तीन निबन्धोंमें जिन बातोंको उन्होंने सूत्ररूपमें कह दिया है, उनकी व्याख्या इन चारों निबन्धोंमें हो गई है। विषयके गम्भीर होते हुए भी उनकी भाषा बड़ी सजीव और रोचक है। साधारणतया इस प्रकारकी आलोचनात्मक पुस्तकें गम्भीर तो होती हैं, लेकिन उनको ऐसी रोचक भाषामें लिखना बड़ा कठिन है जिससे विषयके स्वरूपकी

गम्भीरता भी बनी रहे और प्रवाह भी ऐसा हो कि पढ़नेवाले अगर चाहें भी तो कहीं रुक न सकें।

हिन्दी-साहित्य-संसारमें इस प्रकारकी साहित्यकी आलोचनात्मक पुस्तकें थोड़ी ही हैं। वैसे तो किसी काव्य आदिकी समालोचना करना अत्यन्त सुगमसा प्रतीत होता है; किन्तु जब तक साहित्यके वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान न हो, जब तक उस 'रस' तक पहुँच न हो, जहाँसे काव्य-कुसुम विकसित हो जाता है, तब तक समालोचनाका विशेष महत्त्व नहीं होता। साहित्यके अन्तःस्वरूपको दिखलानेवालीं पुस्तकें काव्य आदिके अध्ययनके मार्गकी परिदर्शिका होती हैं। वे लेखकके उस वास्तविक साहित्यिक रूपको दिखलानेका प्रयत्न करती हैं, जो कि पुस्तकको ऊपर ऊपरसे पढ़नेसे नहीं दिखलाई दे सकता। इस प्रकार ये आलोचनात्मक पुस्तकें सच्ची समालोचनाके मार्गको बतलाकर सुन्दर साहित्यके निर्माणमें सहायता देती हैं।

इसलिए यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं है कि आलोचनात्मक पुस्तकोंकी हिन्दी संसारमें कितनी आवश्यकता है।

इस पुस्तकके प्रकाशक श्रीयुत नाथूरामजी प्रेमीकी यह इच्छा थी कि इसका अनुवाद इस पद्धतिसे किया जाता कि पहले तो कविवरकी भाषाके तात्पर्यको हृदयङ्गम कर लिया जाता और फिर उसे अपनी ही भाषामें लिखा जाता। इसमें सन्देह नहीं है कि शायद इस प्रकार अनुवाद करनेसे पुस्तकका आशय कुछ अधिक स्पष्ट हो जाता, लेकिन इस तरह अनुवाद करनेसे एक तो महाकविकी शैली न रहती, दूसरे जिस रूपमें उन्होंने विषयको उपस्थित किया है, उसका वैसा स्वरूप भी न रहता। हमने अनुवाद करनेमें यह प्रयत्न किया है कि एक तो आशय स्पष्ट हो जाय और दूसरे उनकी लेखन-शैलीका सौन्दर्य भी बना रहे।

एक तो विषय ही गहन है, फिर उसके गम्भीरतम रूपका प्रदर्शन कराया गया है और वह भी ऐसी भाषामें जो कि अनेक व्यञ्जनाओं और इङ्गितोंसे ओतप्रोत हैं, इसलिए पुस्तकके अनुवाद करनेमें जो कठिनाइया हो सकती हैं, उनकी सहजमें ही कल्पना की जा सकती है। फिर कई जगह तात्पर्योंमें मतभेद भी हो सकता है। इतना होनेपर भी पुस्तकके अन्दर 'साहित्य 'का

जिस तरह सूक्ष्म विवेचन किया गया है, जिस तरह उसके स्वरूपको समझा-नेका प्रयत्न किया गया है, वह इतना सुन्दर और सजीव है कि उसने हमें इस दुस्साहसके लिए विवश कर दिया। आशा है कि इसके लिए पाठक हमें क्षमा करेंगे।

यदि यह पुस्तक हिन्दीमें साहित्यकी गूढ समस्याओंकी मीमांसामें कुछ भी उत्तेजना प्रदान करेगी, तो हम अपने इस तुच्छ परिश्रमको सफल समझेंगे।

कार्तिक शुक्ला ४, १९८६
उस्मानिया कॉलेज,
औरंगाबाद

वंशीधर विद्यालङ्कार।

विषय-सूची

हमारी इन सब बातोंके कहनेका तात्पर्य यही है कि हमारे भावोंकी सृष्टि कोई खामखयाली चेष्टा नहीं है। यह वस्तु-सृष्टिके समान ही अमोघ नियमोंके अधीन है। प्रकाशके जिस आवेगको हम बाह्य जगत्के समस्त अणु परमाणुओंके अन्दर देखते हैं, वही एक ही आवेग हमारी मनोवृत्तियोंके अन्दर प्रबल वेगसे कार्य कर रहा है। इसलिए जिन आँखोंसे हम पर्वत-जङ्गल, नद-नदी, मरुभूमि और समुद्रको देखते हैं, साहित्यको भी उन्हीं आँखोंसे देखना पड़ेगा—यह भी हमारा तुम्हारा नहीं है—यह भी निखिल सृष्टिका एक भाग है।

साहित्यसृष्टि, पृ० ८७

सत्यको जहाँ मनुष्य स्थूलरूपमें अर्थात् आनन्दरूपमें, अमृतरूपमें प्राप्त करता है, वहीं अपने एक चिह्नको खोद देता है। यह चिह्न ही कहीं मूर्त्ति, कहीं मन्दिर, कहीं तीर्थ और कहीं राजधानी हो जाता है। साहित्य भी यही चिह्न है।

सौन्दर्यबोध, पृ० ४४

ओ३म्

साहित्य

साहित्यका तात्पर्य

बाह्य जगत् हमारे मनके अन्दर प्रवेश करके एक दूसरा जगत् बन जाता है। उसमें केवल बाह्य जगत्के रङ्ग, आकृति तथा ध्वनि आदि ही नहीं होते, अपि तु उसके साथ हमारा अच्छा-बुरा लगना, हमारा भय-विस्मय, हमारा सुख-दुःख भी मिला रहता है—*वह हमारी हृदय-वृत्तिके विचित्र रसमें—नाना प्रकारसे आभासित होता है।

इसी हृदयवृत्तिके रसमें जीर्ण करके हम बाह्य जगत्को विशेष रूपसे अपना बना लेते हैं। जिस तरह जिनके उदरमें पचानेवाला रस पर्याप्त मात्रामें नहीं होता, वे बाह्य खाद्य पदार्थको अच्छी तरह अपने शरीरकी वस्तु नहीं बना सकते; उसी तरह जो हृदयवृत्तिके जारक रसका उपयोग संसारमें पर्याप्तमात्रामें नहीं कर सकते, वे बाह्य जगत्को अन्दरका जगत्, अपना जगत् अर्थात् मानुषीय जगत् नहीं बना सकते।

कुछ इस प्रकारके जड़ प्रकृतिके मनुष्य हैं जिनके हृदयोंमें संसारके अत्यन्त अल्प विषयोंके प्रति उत्सुकता होती है—वे संसारमें जन्म लेकर

---

* वहसे तात्पर्य बाह्य संसारका है।

भी अधिकांश जगत्‌से वञ्चित रहते हैं। उनके हृदयकी खिड़कियाँ संख्यामें कम और चौड़ाईमें सङ्कीर्ण होती हैं, इसलिए संसारके बीचमें वे प्रवासी-से हैं।

कुछ इस प्रकारके सौभाग्यवान् मनुष्य भी हैं जिनका विस्मय, प्रेम और कल्पना सर्वत्र सजग रहती है—प्रकृतिके कोने कोनेसे उनको निमंत्रण मिलता है; संसारके नाना आन्दोलन उनकी चित्त-वीणाको नाना रागिणियोंमें स्पन्दित कर देते हैं।

बाह्य जगत् इनके मनके बीच हृदयवृत्तिके नाना रसोंमें, नाना रङ्गोंमें, नाना साँचोंमें अनेक प्रकारसे बन जाता है।

भावुकोंके मनका यह जगत् बाह्य जगत्‌की अपेक्षा मनुष्यका अधिक अपना है। वह हृदयकी सहायतासे मनुष्यके हृदयके लिए अधिक सुगम हो जाता है। वह हमारे चित्तके प्रभावसे जो विशेषता प्राप्त करता है, मनुष्यके लिए वही सबसे अधिक उपादेय है।

इसीलिए देखा जाता है कि बाह्य जगत्‌में तथा मनुष्य-जगत्‌में बड़ा अन्तर है। कौन-सी वस्तु सफेद है, कौन-सी काली है, कौन-सी बड़ी है, कौन-सी छोटी है—मनुष्य-जगत् इनकी केवल सूचना ही नहीं देता है; किन्तु कौन-सी वस्तु प्रिय है, कौन-सी अप्रिय, कौन-सी वस्तु अच्छी है, कौन-सी बुरी,—मनुष्य-जगत् इसी बातको नाना सुरोंमें कहता है।

यही मनुष्य-जगत् हमारे हृदय–हृदयमें प्रवाहित होता हुआ आता है। यह प्रवाह पुरातन एवं नित्य नवीन है। नई नई इन्द्रियों—नये नये हृदयोंके भीतर होकर यह सनातन स्रोत सदासे नया होकर बह रहा है।

किन्तु इसको किस प्रकार प्राप्त किया जाय? इसको किस तरीकेसे पकड़कर रक्खा जाय? इस अपरूप मानस-जगत्‌को रूप देकर दुबारा प्रकाशित न कर सकनेपर यह सदा ही सृष्ट एवं सदा ही विनष्ट हुआ करता है।

किन्तु यह वस्तु नष्ट नहीं होना चाहती। हृदयका जगत् अपनेको व्यक्त करनेके लिए व्याकुल रहता है। इसीलिए चिरकालसे मनुष्यके अन्दर साहित्यका आवेग है।

साहित्यका विचार करते समय दो बातोंपर विचार करना पड़ता है। प्रथम—लेखकके हृदयका संसारके ऊपर कितना अधिकार है? द्वितीय—वह स्थायी रूपमें कितना व्यक्त हुआ है?

हमेशा इन दोनोंके बीचमें सामञ्जस्य नहीं होता। जहाँ होता है, वहाँ सोनेमें सुहागा होता है।

कविका कल्पना-सजीव हृदय जितना विश्वव्यापी होता है, उसकी रचनाकी गम्भीरतामें हमारी संतुष्टि उतनी ही बढ़ जाती है। उतनी ही मानव-संसारकी सीमाके विस्तृत होनेसे हमारा चिरंतन विहारका क्षेत्र विपुलताको प्राप्त करता है।

किन्तु रचनाशक्तिकी निपुणता भी साहित्यमें अत्यन्त मूल्यवान् है। क्योंकि जिसका सहारा लेकर वह शक्ति व्यक्त होती है, उसके अपेक्षाकृत तुच्छ होनेपर भी यह शक्ति सर्वथा नष्ट नहीं होती। यह भाषा तथा साहित्यमें इकट्ठी होती रहती है। इसके द्वारा मनुष्यकी प्रकाश करनेकी क्षमता बढ़ जाती है। इस क्षमताको प्राप्त करनेके लिए मनुष्य सदासे व्याकुल है। जिन कृतियोंकी सहायतासे मनुष्यकी यह शक्ति परिपुष्ट होती है, मनुष्य उनको यशस्वी बनाकर उनसे उऋण होनेकी चेष्टा करता है।

जो मानस-जगत् हृदयके भावोंके उपकरणोंके द्वारा अन्दर सृष्ट होता है, उसको बाहर प्रकाशित करनेका कौन-सा तरीका है?

उसको इस तरह व्यक्त करना होगा जिससे हृदयका भाव सुस्पष्ट हो जाय। हृदयके भावोंको सुस्पष्टतया व्यक्त करनेमें बहुत-सी सामग्री लगती है।

पुरुषके दफ्तर जानेके कपड़े सीधे सादे होते हैं, वे जितने कम हों उतने ही कार्यमें उपयोगी होते हैं। स्त्रियोंकी वेश-भूषा, लज्जा-शर्म, भाव-भङ्गी समस्त ही सभ्य समाजोंमें प्रचलित है।

स्त्रियोंका कार्य हृदयका कार्य है। उनको हृदय देना पड़ता है और हृदयको खींचना पड़ता है—इसीलिए बिलकुल सरल सीधा सादा और नपा नपाया होनेसे उनका कार्य नहीं चलता। पुरुषोंको यथायोग्य होना आवश्यक है किन्तु स्त्रियोंको सुन्दर होना चाहिए। मोटे तौरसे

पुरुषोंके व्यवहारका सुस्पष्ट होना ही अच्छा है; किन्तु स्त्रियोंके व्यवहारमें अनेक आवरण और आभास-इङ्गित होने चाहिएँ।

साहित्य भी अपनी चेष्टाको सफल करनेके लिए अलङ्कारोंका, रूपकोंका, छन्दोंका और आभास-इङ्गितोंका सहारा लेता है। दर्शन और विज्ञानके समान निरलङ्कृत होनेसे उसका गुज़ारा नहीं हो सकता।

यदि अपरूपको रूपके द्वारा अभिव्यक्त किया जाय, तो वाणीके अन्दर अनिर्वचनीयताकी रक्षा करनी पड़ती है। जिस प्रकार स्त्रियोंकी सुन्दरता और लज्जा होती है, साहित्यकी अनिर्वचनीयता भी वैसी ही होती है। वह अनुकरणातीत है। वह अलङ्कारोंको अतिक्रम कर देती है, वह अलङ्कारों द्वारा आच्छन्न नहीं होती।

भाषाके बीचमें इस भाषातीतको प्रतिष्ठित करनेके लिए साहित्य मुख्यतः दो वस्तुओंको मिलाया करता है—एक चित्रको और दूसरे सङ्गीतको।

वाणीके द्वारा जिसे नहीं कहा जा सकता उसे चित्रके द्वारा कहना पड़ता है। साहित्यमें इस प्रकारकी चित्र-रचनाकी सीमा नहीं है। उपमा, तुलना और रूपकके द्वारा भाव प्रत्यक्ष होना चाहते हैं। "देखिवारे आँखि-पाखि धाय" अर्थात् "देखनेके लिए आँखपक्षी दौड़ता है" इसी एक बातमें कवि बलरामदासने क्या नहीं कह दिया है? एकमात्र वर्णन करनेमें व्याकुल दृष्टिकी व्याकुलता किस प्रकार व्यक्त की जा सकती है? दृष्टि पक्षीकी तरह उड़कर दौड़ी है, इस चित्रसे अभिव्यक्त करनेकी बहुत-सी व्याकुलता मुहूर्त्तमें शान्तिको प्राप्त हो गई है।

इसके अतिरिक्त छन्दोंमें, शब्दोंमें, वाक्यविन्यासमें साहित्यको सङ्गीतका आश्रय तो लेना ही पड़ता है। जिसको किसी प्रकार भी कहा नहीं जा सकता, उसे सङ्गीतके द्वारा ही कहना पड़ता है। जो वस्तु अर्थके विश्लेषण करनेपर अत्यन्त सामान्य प्रतीत होती है, वही सङ्गीतके द्वारा असामान्य हो जाती है। यह सङ्गीत ही वाणीमें वेदनाका सञ्चार कर देता है।

अतएव चित्र और सङ्गीत ही साहित्यके प्रधान उपकरण हैं। चित्र भावको आकार देता है और सङ्गीत भावको गति प्रदान करता है। चित्र देह है और सङ्गीत प्राण है।

किन्तु केवल मनुष्यका हृदय ही साहित्यमें पकड़ रखने योग्य वस्तु नहीं है। मनुष्यका चरित्र भी एक इस प्रकारकी सृष्टि है, जो जड़-सृष्टिकी तरह हमारी इन्द्रियोंद्वारा अधीन नहीं होती। वह 'खड़े हो जाओ' कहने मात्रसे खड़ी नहीं हो जाती। वह मनुष्यके लिए अत्यन्त उत्सुकताजनक है; किन्तु उसको पशुशालाके पशुके समान बाँधकर बड़े पिंजरेमें बन्द करके टकटकी लगाकर देखनेका कोई सुगम उपाय नहीं है।

इन्हीं कड़े नियमोंसे अतीत, विचित्र मानव-चरित्र है—साहित्य इसीको अन्तर्लोकसे बाहर प्रतिष्ठित करना चाहता है। यह अत्यन्त दुरूह कार्य है। क्योंकि मानव-चरित्र स्थिर तथा सुसङ्गत नहीं है, उसके अनेक अंश और तहें हैं—उसके अन्दर-बाहर बेरोक-टोक गमनागमन करना सुगम नहीं है। इसके अतिरिक्त उसकी लीला इतनी सूक्ष्म है, इतनी अभावनीय है, इतनी आकस्मिक है कि उसे पूर्णरूपसे हमें हृदयगम्य करा देना असाधारण शक्तिका ही कार्य है। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि यही कार्य करते आये हैं।

यदि हमारे समस्त विचारणीय विषयको संक्षेपसे कहाँ जाय तो यही कहना होगा कि साहित्यका विषय मानव-हृदय और मानव-चरित्र है।

किन्तु 'मानव-चरित्र' यह कहना भी मानो आवश्यकतासे अधिक है। वस्तुतः बाह्य प्रकृति और मानव-चरित्र मनुष्यके हृदयके अन्दर प्रतिक्षण जो रूप धारण करते हैं, जिस सङ्गीतको ध्वनित करके उठाते हैं, भाषारचित वही चित्र और वही गान साहित्य है।

भगवान्‌का आनन्द प्रकृतिके बीचमें, मानव-चरित्रके बीचमें अपनेको स्वयं सृष्ट कर रहा है। मनुष्यका हृदय भी साहित्यमें अपनेको सृजन करनेके लिए, व्यक्त करनेके लिए चेष्टा कर रहा है। इस चेष्टाका अन्त नहीं है, यह एक विचित्र बात है। कवि लोग मानव-हृदयकी इस चिरन्तन चेष्टाके उपलक्ष्यमात्र हैं।

भगवान्‌की आनन्दसृष्टि अपने अन्दरसे स्वयं निकल रही है। मानव-हृदयकी आनन्दसृष्टि उसीकी प्रतिध्वनि है। इसी जगत्‌सृष्टिके आनन्द-गीतकी झङ्कार हमारी हृदय-वीणातंत्रीको अहरहः स्पन्दित करती है।

यही जो मानस-सङ्गीत है—भगवान्‌की सृष्टिके प्रतिघातमें हमारे अन्दर यही जो सृष्टिका आवेग है,—उसीका विकास साहित्य है। संसारका निश्वास हमारी चित्तवंशीमें कौन-सी रागिणीको बजा रहा है—साहित्य उसीको स्पष्ट करके व्यक्त करनेकी चेष्टा करता है। साहित्य किसी व्यक्ति-विशेषका नहीं है, वह रचयिताका नहीं है—वह तो देववाणी है। बाह्य सृष्टि जिस प्रकार अपनी अच्छाई, बुराई, अपनी असम्पूर्णताको लेकर चिर-कालसे व्यक्त होनेकी चेष्टा कर रही है—यह वाणी भी उसी प्रकार देश-देशमें, भाषा-भाषामें हमारे अन्तस्तलसे बाहर होनेके लिए निरन्तर प्रयत्न कर रही है।

साहित्यकी सामग्री

शुद्ध भावसे एकमात्र अपने आनन्दके लिए ही लिखनेको साहित्य नहीं कहते। कई लोग कविता लिखकर कहते हैं कि जैसे पक्षी अपने आनन्दके उल्लासमें गाता है, उसी प्रकार लेखककी रचनाका उच्छ्वास भी अपने लिए ही होता है—मानों पाठक उसे छुपकर सुना करते हैं।

पक्षीके गानमें पक्षीसमाजके प्रति कुछ भी लक्ष्य नहीं होता, इस बातको ज़ोर देकर नहीं कहा जा सकता। नहीं होता तो नहीं सही, इसको लेकर तर्क करना व्यर्थ है—किन्तु लेखककी रचनाका प्रधान लक्ष्य पाठक-समाज होता है।

इस कारण लेखककी रचना कृत्रिम हो जाती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। माताका दूध एकमात्र सन्तानके लिए है, इसीलिए वह स्वतः स्फूर्त होता है यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं है।

नीरव कवित्व और आत्मगत भावोच्छ्वास, साहित्यमें ये दो निरर्थक बातें किसी किसी जगह प्रचलित हैं। जो काठ जलता नहीं है उसे आगके नामसे कहना जैसा है, जो मनुष्य आकाशकी ओर देखकर आकाश-ही-के समान नीरव हो जाता है उसे कवि कहना भी वैसा ही है। प्रकाश ही साहित्य है, मनके अन्तस्तलमें क्या है और क्या नहीं है, इसकी आलोचना करनेसे बाहरके मनुष्योंको कोई हानि या लाभ नहीं है। श्लोकमें कहते हैं "मिष्टान्नमितरे जनाः।" भण्डारमें क्या जमा है, उसका अनुमानसे हिसाब लगानेमें बाहरके लोगोंको कोई हानि या लाभ नहीं है, उनको तो मिष्टान्न हाथोंहाथ मिलना चाहिए।

साहित्यमें आत्मगत-भावोच्छ्वासकी भी वैसी ही बात है। रचना स्वयं रचयिताके लिए नहीं है, यही मान लेना होगा और यह मानकर ही विचार करना होगा।

हमारे मानसिक भावोंकी यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वे अनेक हृदयोंमें अपनेको अनुभव कराना चाहते हैं। हम प्रकृतिमें देखते हैं कि प्राणिमात्रके अन्दर व्याप्त होनेके लिए, स्थिर रहनेके लिए, सर्वदा एक चेष्टा चल रही है। जो जीव सन्तानोंके द्वारा अपनेको जितना बहुगुणित करके जितनी अधिक जगह भर सकता है, उसके जीवनका अधिकार उतना अधिक बढ़ जाता है, मानों वह अपने अस्तित्वको उतना ही अधिक सच्चा बना लेता है।

मनुष्यके मानसिक भावोंके अन्दर भी उसी तरहकी एक चेष्टा है। भेद इतना ही है कि प्राणोंका अधिकार देश और कालपर होता है, जब कि मानसिक भावोंका अधिकार मन और कालपर होता है। मानसिक भावोंकी चेष्टा बहुत समय तक बहुतसे हृदयोंको अपने वशमें करना है।

एकमात्र इसी आकांक्षाकी पूर्त्तिके लिए कितने प्राचीन कालसे कितने संकेतोंमें, कितनी भाषाओंमें, कितनी लिपियोंमें, कितनी पत्थरकी खुदाइयोंमें, कितनी धातुओंकी ढलाइयोंमें, कितनी चमड़ोंकी बँधाइयोंमें, कितनी वृक्षकी छालोंमें, पत्तोंमें, कागजोंमें, कितनी तूलिकाओंसे, कितनी छेनियोंसे, कलमोंसे कितना चित्रण और कितना प्रयत्न हुआ है? बाईं ओरसे दाईं ओर, दाईं ओरसे बाईं ओर, ऊपरसे नीचेकी ओर, एक पंक्तिसे दूसरी पंक्तिमें क्या नहीं किया गया? मैंने जो कुछ सोचा है, मैंने जो कुछ अनुभव किया है, वह मरेगा नहीं। वह एक मनसे दूसरे मनमें, एक कालसे कालान्तरमें चित्रित होता हुआ, अनुभूत होता हुआ, प्रवाहित होकर चलेगा। हमारा घर, हमारा सामान आदि, हमारा शरीर, मन, हमारी सुख-दुःखकी सामग्री, सब कुछ नष्ट हो जाएगा—एक मात्र मैंने जो कुछ विचारा है, जो कुछ अनुभव किया है वह अनन्तकाल तक मनुष्यकी भावना तथा मनुष्यकी बुद्धिका सहारा लेकर सजीव संसारमें जीता रहेगा।

मध्य एशियाके गोबि-मरुस्थलकी बालुकाके स्तूपमेंसे जब विलुप्त मानव-समाजकी विस्मृत प्राचीन कालकी फटी पुरानी पोथी बाहर निकल पड़ती है, तब उसकी उस अज्ञात भाषाके अपरिचित अक्षरोंके बीचमेंसे कौन-सी एक वेदना प्रकट होती है! किस समयकी, किस सजीव चित्तकी चेष्टा

आज हमारे मनके अन्दर प्रवेश करनेके लिए छटपटा रही है ! जिसने लिखा था वह नहीं है, जिस नगरीमें लिखा गया था वह भी नहीं है—किन्तु मनुष्यके मनका भावमात्र मनुष्यके सुखदुःखके अन्दर लालित होनेके लिए एक युगसे दूसरे युगमें आकर अपना परिचय नहीं दे सकता—अपनी दोनों भुजाओंको बढ़ाकर मुखकी ओर देख रहा है ।

संसारके सर्वश्रेष्ठ सम्राट् अशोक अपनी जिन बातोंको चिरकालके श्रुतिगोचर कराना चाहते थे, उन्हें उन्होंने पहाड़के शरीरमें खोद दिया था। सोचते थे कि पहाड़ किसी समय मरेगा नहीं, हटेगा नहीं—अनन्तकालके पथके किनारे अचलरूपसे खड़े रहकर नवनवयुगके पथिकोंको एक बात चिरकाल तक आवृत्ति करके सुनाता रहेगा । उन्होंने पहाड़को अपनी बात कहनेका भार सौंपा था ।

पहाड़ समय-असमयका कुछ भी विचार न करके उनकी भाषाका वहन करता आया है। कहाँ अशोक, कहाँ पाटलीपुत्र, कहाँ धर्मजाग्रत भारतवर्षका वह गौरवका दिन! किन्तु पहाड़ उस दिनकी उन कितनी ही बातोंको विस्मृत अक्षरोंमें, अप्रचलित भाषामें आज भी बोल रहा है। कितने दिन उसने अरण्य-रोदन किया है—अशोककी वह महावाणी भी कितनी शताब्दियों तक मानव-हृदयोंको गूँगेके समान इशारोंसे बुलाती रही है। रास्तेसे राजपूत गए, पठान गए, मोगल गए, बर्गी×की तलवारें बिजलीकी तरह शीघ्रवेगसे दिग्दिगन्तमें प्रलयका कषाघात करके चली गईं—किसीने उन इशारोंका प्रत्युत्तर नहीं दिया। समुद्रपारके जिस क्षुद्र द्वीपकी अशोकने कभी कल्पना भी नहीं की थी,—उसके कारीगर जब पाषाण-फलकोंमें उसकी आज्ञाओंको खोद रहे थे; तब जिस द्वीपके अरण्यचारी "ड्रूइड" लोग अपनी पूजाके आवेगको भाषाहीन प्रस्तरके स्तूपोंमें स्तम्भित किया करते थे, बहुत सहस्र वर्षोंके अनन्तर उसी द्वीपसे एक विदेशीने आकर कालान्तरके उस मूक इङ्गित-पाशमेंसे उसकी भाषाका उद्धार कर दिया। इस प्रकार राजचक्रवर्ती अशोककी इच्छा इतनी शताब्दियोंके बाद एक विदेशीकी सहायतासे सार्थकताको प्राप्त हुई। वह इच्छा और कुछ नहीं है,

× मराठोंकी आक्रमणकारी घुड़सवार सेना।

अशोक चाहे कितने ही बड़े सम्राट् क्यों न हों, वे क्या चाहते हैं क्या नहीं, उनको कौनसी वस्तु अच्छी लगती है कौनसी बुरी, यह उन्हें एक रास्तेके पथिकको भी बताना पड़ेगा। उनके मनका भाव इतने युगोंसे सकल मनुष्योंके मनोंका आसरा देखता हुआ रास्तेके एक ओर खड़ा हुआ है। राजचक्रवर्तीकी उस एकाग्र आकांक्षाकी ओर कुछ पथिक देखते हैं और कुछ बिना देखे चले जाते हैं।

यह कहकर मैं अशोककी आज्ञाओंको 'साहित्य' कहता हूँ, ऐसी बात नहीं है। इससे इतना ही पता लगता है कि मानव-हृदयकी एक प्रधान आकांक्षा कौन-सी है? हम जो मूर्ति गढ़ रहे हैं, चित्र बना रहे हैं, कविता लिख रहे हैं, पत्थरके मन्दिरका निर्माण कर रहे हैं, इस तरह देश-विदेशमें चिरकालसे यह जो एक अविश्रान्त चेष्टा चल रही है, वह और कुछ नहीं है—मनुष्यका हृदय मनुष्यके हृदयसे अमरताकी प्रार्थना कर रहा है।

जो चिरकालीन वस्तु मनुष्यके हृदयमें अमर होनेकी चेष्टा करती है, साधारणतया वह हमारे क्षणकालीन प्रयोजन और चेष्टाओंसे नाना प्रकारसे पृथक्ताको अवलम्बन करती है। हम वार्षिक आवश्यकताके लिए ही चावल, जौ, गेहूँ आदि बोते हैं; किन्तु यदि हम जङ्गलोंकी प्रतिष्ठा करना चाहें तो हमें वनस्पतियोंके बीजोंका संग्रह करना पड़ता है।

साहित्यमें यही चिरस्थायी होनेकी चेष्टा ही मनुष्यकी प्रिय चेष्टा है। इसलिए देशहितैषी समालोचक यह कहकर कितनी ही उत्तेजना क्यों न दें कि सारवान् साहित्यका अभाव हो रहा है, केवल नाटकों, उपन्यासों और काव्योंसे सारा देश छाता चला जा रहा है, फिर भी लेखकोंको होश नहीं आता। क्योंकि सारवान् साहित्यसे तात्कालिक आवश्यकता पूर्ण हो जाती है, किन्तु अप्रयोजनीय साहित्यमें स्थायी रहनेकी अधिक सम्भावना है।

जो ज्ञानकी बात है, प्रचार हो जानेपर उसका उद्देश्य सफल होकर समाप्त हो जाता है। मनुष्योंके ज्ञानमें नये आविष्कारोंद्वारा पुरातन आविष्कार ढकते चले जा रहे हैं। कल जो वस्तुएँ पण्डितोंके लिए अगम्य थीं वह आज अर्वाचीन बालकोंके लिए भी नई नहीं हैं। जो सत्य नये वेशमें विप्लवको पैदा करता है, वह पुराने वेशमें विस्मयको भी उत्पन्न नहीं करता। आज जो सब तत्त्व एक मूर्खको भी भली भाँति मालूम हैं, किसी

समय उन्होंने पण्डितोंके निकट भी बड़ी बड़ी बाधाएँ पाईं थीं, अर्थात् वे भी उन्हें नहीं मानते थे, इसीमें लोगोंको आश्चर्य होता है।

किन्तु हृदयके भावोंकी बात प्रचारके द्वारा पुरानी नहीं होती। ज्ञानकी बातको एक बार जान लेनेके पश्चात् फिर जाननेकी आवश्यकता नहीं रह जाती; अग्नि गरम है, सूर्य गोल है, जल द्रव है, ये सब बातें एक बार जान लेनेसे ही चुक जाती हैं—दूसरी बार यदि कोई हमें यही बातें नई शिक्षाके समान बतानेको आए तो धैर्यकी रक्षा करना कठिन हो जाता है। किन्तु भावोंकी बातको बारंबार अनुभव करके भी श्रान्ति-बोध नहीं होता। सूर्य पूर्व दिशाकी ओरसे निकलता है, यह बात हमारे मनको अधिक आकर्षण नहीं करती—किन्तु सूर्योदयमें जो सौन्दर्य और आनन्द है, वह जीवसृष्टिसे लेकर आज तक भी हमारे लिए अम्लान है। अनुभव जितने प्राचीन कालसे जितनी लोकपरम्पराओंद्वारा प्रवाहित होकर आता है—उतना ही वह हमें सहजमें ही आविष्ट कर सकता है।

इसलिए यदि मनुष्य अपनी किसी वस्तुको चिरकालपर्यन्त मनुष्योंके पास उज्ज्वल तथा नवीन भावोंमें अमर करके रखना चाहता है, तो उसे भावोंकी बातका ही आश्रय लेना पड़ता है। इसी कारण साहित्यका प्रधान अवलंबन ज्ञानका विषय नहीं है, भावोंका विषय है।

इसके अतिरिक्त जो ज्ञानकी वस्तु है, उसे एक भाषासे दूसरी भाषामें परिवर्तन कर देनेसे कार्य चल जाता है। मूल रचनासे उसे लेकर दूसरी रचनामें निविष्ट कर देनेसे कई बार तो उसकी उज्ज्वलताकी भी वृद्धि हो जाती है। उसके विषयको लेकर नाना प्रकारके लोगोंमें नाना भाषाओं-द्वारा अनेक प्रकारसे प्रचारित किया जा सकता है—इसी प्रकार उसका उद्देश्य यथार्थरूपसे सफल हुआ करता है।

किन्तु भावोंके विषयमें यह बात नहीं हो सकती। वे जिस मूर्तिका सहारा लेते हैं—उससे फिर अलग नहीं हो सकते।

ज्ञानकी बातको प्रमाणित करना पड़ता है और भावोंकी बातको सञ्चारित कर देना होता है। उसके लिए नाना प्रकारके आभास-इङ्गितोंकी, नानाप्रकारकी चतुराइयोंकी आवश्यकता पड़ती है। उसको केवल समझाकर कह देनेसे कार्य नहीं चलता, उसकी सृष्टि करनी पड़ती है।

यह कला-कौशलपूर्ण रचना भावोंकी देहके समान होती है। इस देहके बीच भावोंकी प्रतिष्ठामें लेखकका परिचय मिलता है। इसी शरीरकी प्रकृति और गठनके अनुसार ही उसका आश्रित भाव मनुष्योंके पास आदर पाता है—इसकी शक्तिके अनुसार ही वह हृदयों और समयोंमें व्याप्तिलाभ कर सकता है।

प्राण एकमात्र शरीरके ऊपर ही निर्भर करते हैं। जलके समान उन्हें एक पात्रसे दूसरे पात्रमें डाला नहीं जा सकता। देह और प्राण आपसमें एक दूसरेको गौरवान्वित करके एकात्म होकर रहते हैं।

भाव, विषय और तत्त्व साधारण मनुष्योंके होते हैं। उन्हें यदि एक मनुष्य बाहर नहीं करता तो कालक्रमसे कोई दूसरा करेगा। किन्तु रचना लेखककी सम्पूर्ण रूपसे अपनी होती है। वह एक मनुष्यकी जैसी होगी दूसरेकी वैसी नहीं होगी। इसलिए रचनाके अन्दर ही लेखक यथार्थरूपसे जीवित रहता है, भावों और विषयके अन्दर नहीं।

यद्यपि रचना कहनेसे भाव और भावको प्रकट करनेका तरीका, इन दोनों बातोंका सम्मिलित रूपसे बोध होता है; किन्तु लिखनेका तरीका ही विशेषरूपसे लेखकका होता है।

तालाब कहनेसे जल और खुदा हुआ आधार इन दोनों बातोंका एक साथ बोध होता है, किन्तु इनमेंसे यश किसका है ? जल मनुष्यकी सृष्टि नहीं है, वह तो चिरन्तन है। उसी जलको विशेष रूपसे सर्व साधारणके उपयोगके लिए सुदीर्घ कालपर्यन्त रक्षा करनेका जो तरीका है, वही प्रख्यात, कीर्तिमान् मनुष्यका अपना है। उसी प्रकार भाव भी मनुष्यमात्रका है; किन्तु उसको विशेष मूर्त्तिमें सब मनुष्योंके लिए विशेष आनन्दकी सामग्री बनानेकी उपाय-रचना ही लेखकका यश है।

अतएव भावको अपना बनाकर सबका बना देना, यही साहित्य है, यही ललितकला है। अङ्गार-वस्तु जलमें, स्थलमें, वायुमें, नाना पदार्थोंमें साधारणतया सबकी है। वृक्ष और लता आदि उसको निगूढ़ शक्तिके बलसे प्रथमतः विशेष आकारमें अपना बना लेते हैं, और उसी उपायके द्वारा वह सुदीर्घकालके लिए सर्व साधारणके उपयोगकी वस्तु बन जाती है। उसका

उपयोग एकमात्र भोजन और उत्ताप आदिके लिए ही नहीं होता, किन्तु उसके द्वारा सौन्दर्य, छाया, स्वास्थ्य भी विकीर्ण हुआ करता है।

इसी कारण देखा जाता है कि सर्वसाधारणकी वस्तुको विशेषरूपसे अपना बनाकर, उसी उपायसे फिर उसको सर्वसाधारणका बना देना साहित्यका कार्य है।

ऐसा होनेपर ज्ञानकी वस्तु साहित्यमेंसे स्वयं निकल जाती है। क्योंकि अँग्रेजीमें जिसे ट्रुथ (Truth) कहते हैं, उसीको हम हिन्दीमें सत्य कहते हैं। अर्थात् जो विषय हमारे लिए बुद्धिगम्य है, उसको व्यक्तिविशेषके निजत्वसे हटाकर लिखना ही अत्यन्त आवश्यक है। सर्वांशमें ही सत्य व्यक्तिनिरपेक्ष और शुभ्र-निरञ्जन होता है। माध्याकर्षण तत्त्व हमारे लिए एकरूप है, दूसरोंके लिए वह अन्यरूप नहीं है। उसके ऊपर विचित्र हृदयोंकी नए नए रङ्गोंकी छायाके पड़नेकी सुविधा नहीं है।

जो समस्त वस्तुएँ दूसरोंके हृदयोंमें सञ्चारित होनेके लिए प्रतिभा-शाली हृदयोंसे स्वरों, रङ्गों और इङ्गितोंकी प्रार्थना करती हैं—जो हमारे हृदयोंके द्वारा जब तक सृष्ट नहीं हो उठतीं तब तक दूसरोंके हृदयोंमें प्रतिष्ठालाभ नहीं कर सकतीं—वे ही साहित्यकी सामग्री हैं। वे आकारमें, प्रकारमें, भावमें, भाषामें, स्वरोंमें, छन्दोंमें तभी जी सकती हैं—वे मनुष्यकी एकमात्र अपनी हैं—वे आविष्कार नहीं हैं, अनुकरण नहीं हैं, वे सृष्टि हैं। इसलिए उनके एक वार प्रकाशित हो उठनेपर, उनके रूपान्तर और अवस्थान्तर कर देनेसे कार्य नहीं चलता—उनके हरएक अंशके ऊपर उनकी समग्रता एकान्तभावसे निर्भर करती है। जहाँ उनका व्यतिक्रम देखा जाता है, वहाँ वह साहित्यके अंशमें हेय हैं।

साहित्यके विचारक

घरमें बैठकर जब हम आनन्दमें हँसते हैं या दुःखमें रोते हैं, तो यह कभी मनमें नहीं आता कि हमें इससे अधिक हँसना चाहिए था या हमारा रोना मात्रामें कुछ कम हुआ है। किन्तु दूसरेको जब आनन्द या दुःखका दिखाना आवश्यक हो जाता है, तो मनके भावके सत्य होनेपर भी उसकी बाह्य अभिव्यक्ति सम्पूर्णरूपसे उसकी अनुयायी नहीं बन सकती।

इतना ही क्यों, जिस समय माँ जोरसे विलाप करती हुई गाँवकी सब निद्रा-तंद्रा दूर कर देती है, उस समय वह केवल पुत्र-शोकके लिए रोती है ऐसा नहीं है, किन्तु वह पुत्र-शोककी महत्ताको भी प्रकट करना चाहती है। अपनेको सुख या दुःख दिखानेकी आवश्यकता नहीं होती; दूसरोंको उसे दिखाना पड़ता है। इस कारण शोक-प्रकाशके लिए जितना रोना स्वाभाविक होता है, शोकके दिखानेके लिए उससे अधिक स्वर चढ़ानेके बिना काम नहीं चलता।

इसको कृत्रिमता कहकर उड़ा देना अन्याय होगा। शोकको दिखाना शोकको प्रकाशित करनेका एक स्वाभाविक अङ्ग है। मेरे पुत्रका मूल्य एक मात्र मेरे लिए ही अधिक है, उसका विच्छेद कितना मर्मान्तक है, उसे पृथिवीमें दूसरा और कोई भी नहीं समझेगा, उसके न रहनेपर भी पृथिवीके और सब लोग अत्यन्त स्वच्छन्द चित्तसे आहार, निद्रा तथा दफ्तरोंमें यातायात करते रहेंगे, शोकातुर माताको उसके पुत्रके प्रति संसारकी यह अवहेलना आघात करती है। तब वह अपने शोककी प्रबलताके द्वारा इस क्षतिकी प्रचुरताको संसारके निकट घोषणा करके मानो अपने पुत्रको गौरवान्वित करना चाहती है।

जिस अंशमें शोक अपना होता है, उस अंशमें उसका एक स्वाभाविक संयम होता है; परन्तु जिस अंशमें दूसरोंके पास घोषणारूप होता है उस

अंशमें वह कई बार उपयुक्त सीमाका उल्लंघन कर जाता है। दूसरेके अनुभूतिशून्य चित्तको अपने शोकके द्वारा विचलित करनेकी स्वाभाविक इच्छासे, उसकी चेष्टा अस्वाभाविक उद्यम करने लगती है।

केवल शोक ही नहीं, हमारे अधिकांश हृदयके भावोंकी यही दो दिशाएँ होती हैं, एक—अपने लिए, दूसरी—दूसरोंके लिए। यदि हम अपने हृदयके भावको सर्व साधारणका भाव कर सकें, तो इसमें एक सान्त्वना है, एक प्रकारका गौरव है। मैं जिससे विचलित हो उठता हूँ, तुम उसके प्रति उदासीन रहते हो, यह मुझे अच्छा नहीं लगता।

कारण यह है कि बहुतसे लोगोंके निकट प्रमाणित हुए बिना सत्यकी प्रतिष्ठा नहीं होती। यदि मैं ही आकाशको पीला देखूँ और दस आदमी नहीं, तो इससे यही सिद्ध होता है कि मुझे कोई बीमारी है! वह मेरी ही दुर्बलता है।

हमारी हृदय-वेदनासे पृथिवीके जितने अधिक मनुष्य समवेदना प्रकट करेंगे, उतनी ही उसकी सत्यताकी प्रतिष्ठा होगी। मैं जिसे तीव्रतासे अनुभव कर रहा हूँ, वह मेरी दुर्बलता, बीमारी या पागलपन नहीं है किन्तु सत्य है—उसको सर्व साधारणके हृदयके बीच प्रमाणित करके मैं विशेषरूपसे सान्त्वना और सुख प्राप्त करता हूँ।

जो वस्तु नीली है उसे दस आदमियोंके पास नीली कहकर प्रचार कर देना कठिन नहीं है; किन्तु हमारे लिए जो सुख या दुःख है, प्रिय या अप्रिय है, उसे दूसरोंके निकट वैसा ही अनुभव करा देना कठिन है। उस अवस्थामें अपने भावको केवल मात्र प्रकाशित कर देने मात्रसे छुट्टी नहीं मिल जाती; अपने भावको इस तरह प्रकाशित करना पड़ता है जिससे दूसरे भी उसे यथार्थ कहकर अनुभव करें।

अतएव यहाँ ही ज्यादती होनेकी सम्भावना है। जो वस्तु दूरसे दिखाई पड़ती है, उसे कुछ बड़ा करके ही दिखाना आवश्यक होता है। उसे उतना बड़ा सत्यके अनुरोधसे ही करना पड़ता है। नहीं तो जिस परिमाणमें वस्तु छोटी दीखती है, उसी परिमाणमें मिथ्या प्रतीत होती है। बड़ा करके ही उसे सत्य करना पड़ता है।

मेरा सुख-दुःख मेरे लिए व्यवधानरहित है, तुम्हारे लिए नहीं। मुझसे तुम दूर हो। उसी दूरीका हिसाब करके अपनी बातको तुम्हारे पास कुछ बड़ी करके कहना पड़ता है।

सत्यरक्षापूर्वक इसी बड़ा बनानेकी क्षमतामें साहित्यकारका यथार्थ परिचय प्राप्त होता है। जैसा ठीक है, वैसा ही लिपिबद्ध कर देना साहित्य नहीं है।

कारण यह है कि प्रकृतिमें मैं जो कुछ देखता हूँ वह मेरे लिए प्रत्यक्ष है, मेरी इन्द्रियाँ उसकी साक्षी देती हैं; परन्तु साहित्यमें जो कुछ देखा जाता है, उसके प्राकृतिक होनेपर भी वह प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिए साहित्यमें उसी प्रत्यक्षताके अभावकी पूर्ति करनी पड़ती है।

प्राकृतसत्य तथा साहित्यसत्यमें यहींसे भेद प्रारम्भ होता है। साहित्यकी माता जिस प्रकार रोती है, प्राकृत माता वैसे नहीं रोती; परन्तु इस कारण साहित्यकी माताका रोना मिथ्या नहीं होता। पहले तो प्राकृत रोदन इतना प्रत्यक्ष होता है कि उसकी वेदना आकारमें, इशारोंमें, कण्ठस्वरमें, चारों ओरके दृश्योंमें और शोकघटनाके सच्चे प्रमाणमें हमारी प्रतीति और समवेदनाको उद्रेक कर देनेमें देरी नहीं करती और दूसरी बात यह है कि प्राकृत माँ अपने शोकको सम्पूर्ण रूपसे व्यक्त नहीं कर सकती, वह शक्ति उसमें नहीं है और उसकी वैसी अवस्था भी नहीं है।

इसी कारण साहित्य प्रकृतिका ठीक दर्पण नहीं है। केवल साहित्य ही क्यों, कोई भी कला प्रकृतिका ज्योंका त्यों अनुकरण नहीं है। प्रकृतिमें हम प्रत्यक्ष देखते हैं, साहित्य और ललितकलामें अप्रत्यक्ष। इसलिए इस स्थानपर एक दूसरेका दर्पण बनकर कार्य नहीं कर सकता।

इसी प्रत्यक्षत्वके अभावके कारण साहित्यमें छन्दोबद्ध-भाषा-भङ्गीकी नाना प्रकारकी चतुराई और झङ्कारका आश्रय लेना पड़ता है। इस प्रकार रचनाका विषय बाहरसे कृत्रिम होकर अन्दरसे प्राकृतकी अपेक्षा अधिकतर सत्य हो जाता है।

यहाँ 'अधिकतर सत्य' इस शब्दके व्यवहार करनेका विशेष तात्पर्य है। मनुष्यके भावोंके विषयमें प्राकृतसत्य मिश्रित, टूटाफूटा और क्षणस्थायी होता है। संसारकी तरङ्गें हमेशा ही उठती बैठती रहती हैं—

देखते ही देखते एककी गर्दनपर दूसरी आ पड़ती है—उसमें प्रधान और अप्रधानका कोई विचार नहीं होता। तुच्छ और असामान्य, छोटी और बड़ी आपसमें ठेलाठेली करती रहती हैं। प्रकृतिकी इस विराट रङ्ग-शालामें जब हम मनुष्यके भावाभिनयको देखते हैं, तब हम स्वभावतः ही बहुत कुछ बाद देकर अलग कर लिया करते हैं, अनुमानसे बहुत कुछ भर्ती कर लिया करते हैं और अनुमानके द्वारा बहुत कुछ गढ़ डाला करते हैं। हमारा कोई परम आत्मीय भी अपनी संपूर्णताके सहित हमारे निकट परिचित नहीं होता। हमारी स्मृति एक निपुण साहित्यकारके समान उसके अधिकांशको ही बाद कर डालती है। उसके छोटे बड़े समस्त ही अंश यदि ठीक समान रूपसे पक्षपातरहित होकर हमारी स्मृतिपर अधिकार किया करें, तो इस स्तूपके बीचमें असल चेहरा मर जाएगा और यदि हम सबकी रक्षा करेंगे तो अपने परम आत्मीयको यथार्थ भावसे देख नहीं सकेंगे। परिचयका अर्थ ही यही है कि जो छोड़ने योग्य है उसे छोड़कर जो ग्रहण करने योग्य है उसे ग्रहण कर लेना।

कुछ बढ़ाना भी पड़ता है। हम अपने परम आत्मीयको भी औसत दर्जेमें कम ही देखा करते हैं। उसके जीवनका अधिकांश ही हमारे लिए अगोचर होता है। हम न तो उसकी छाया हैं और न उसके अन्तर्यामी। उसके अधिकांशको ही हम नहीं देख सकते और उसी शून्यताके ऊपर हमारी कल्पना कार्य करती है। खाली स्थानोंको भरकर हम मनके अन्दर एक पूर्ण छविको अङ्कित कर लेते हैं। जिन लोगोंके विषयमें हमारी कल्पना खेलती नहीं, जिनकी शून्यता हमारे निकट शून्यरूप ही रहती है, जिसका प्रत्यक्षगोचर अंश ही हमारे निकट वर्तमान है और अप्रत्यक्ष अंश अस्पष्ट और अगोचर है, उसको हम नहीं जानते, थोड़ा ही जानते हैं। पृथिवीके अधिकांश मनुष्य ही इसी प्रकार हमारे निकट छाया हैं, असत्यप्राय हैं। उनमेंसे बहुतोंको हम वकील, डाक्टर या दूकानदारके रूपमें जानते हैं—मनुष्यके रूपमें नहीं जानते। अर्थात् हमारे साथ उनका जिस बाहरी विषयसे सम्बन्ध है, उसीको हम सर्वापेक्षा बड़ा समझते हैं, उनके बीचमें उसकी अपेक्षा जो कुछ बड़ा है, वह हमारे निकट किसी अधिकारको नहीं प्राप्त करता।

साहित्य जिस वस्तुको हमें बताना चाहता है, उसे सम्पूर्ण रूपसे बताता है—अर्थात् स्थायीकी रक्षा करके, अवान्तरको बाद देकर, छोटेको छोटाकर, बड़ेको बड़ाकर, शून्यताको भरकर और अलग-अलगको एकत्रित करके उपस्थित करता है ! प्रकृतिकी पक्षपातहीन प्रचुरतामें मन जो कुछ करना चाहता है, साहित्य उसीको किया करता है। मन प्रकृतिका दर्पण नहीं है और साहित्य भी प्रकृतिकी आरसी नहीं है। मन प्राकृतिक वस्तुको मानसिक बना लेता है—साहित्य उसी मानसिक वस्तुको साहित्यिक बना लेता है।

दोनोंकी कार्यप्रणाली प्रायः एक ही तरहकी होती है। इन दोनोंके अन्दर कई एक विशेष कारणोंसे भेद हो गया है। मन जो कुछ गढ़कर बनाता है, उसे अपनी आवश्यकताके लिए ही बनाता है और साहित्य जो कुछ गढ़कर बनाता है, उसे सबके आनन्दके लिए बनाता है। अपने लिए स्थूलतः नोट करके रख लेनेसे भी कार्य चल सकता है; किन्तु जिसे सबके लिए बनाना पड़ता है उसे आद्यन्त सुसम्बद्ध करके ही बनाना पड़ता है। और उसको ऐसे स्थानपर इस तरहके प्रकाशमें इस तरकीबसे रखना पड़ता है कि वह सबको सम्पूर्ण रूपसे दृष्टिगोचर हो। साधारणतया मन प्रकृतिके बीचमेंसे संग्रह करता है और साहित्य मनके बीचमेंसे सञ्चय करता है। मनकी वस्तुको बाहर प्रदर्शित करनेके लिए सृजनशक्तिकी विशेषतया आवश्यकता होती है। इस प्रकार प्रकृतिसे मनमें और मनसे साहित्यमें जो कुछ प्रतिफलित होता है, वह अनुकरणसे बहुत दूर होता है।

प्रकृत साहित्यमें हम अपनी कल्पनाको, अपने सुखदुःखको, शुद्ध वर्तमानकालमें नहीं; किन्तु चिरन्तन कालके बीचमें प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। इसलिए उसी सुविशाल प्रतिष्ठाक्षेत्रके साथ उसके परिमाणका सामञ्जस्य करना पड़ता है। क्षणकालके बीचमेंसे उपकरणोंको एकत्रित करके जब उन्हें चिरकालके लिए बनाना पड़ता है, तब क्षणकालके मापनेके गजसे कार्य नहीं चल सकता। इसी कारण प्रचलित समयके साथ, संकीर्ण संसारके साथ, उच्च साहित्यके परिमाणका भेद हो जाता है।

अन्दरकी वस्तुको बाहरकी, भावकी वस्तुको भाषाकी, अपनी वस्तुको विश्व-मानवकी और क्षणिक वस्तुको चिरकालकी बना देना साहित्यका कार्य है।

जगत्के साथ मनका जो सम्बन्ध होता है, मनके साथ साहित्यकारकी प्रतिभाका वही सम्बन्ध होता है। उस प्रतिभाको विश्व-मानव-मन नामसे कहनेमें कोई हानि नहीं है। जगत्मेंसे मन अपनी वस्तुओंको संग्रह करता है और उसी मनमेंसे विश्व-मानव-मन फिर अपनी वस्तुओंको अपने लिए गढ़ लेता है।

मालूम होता है कि बात अधिक अस्पष्ट हो गई है। कुछ और स्पष्ट करनेका प्रयत्न करूँगा। नहीं जानता कि इसमें मैं कृतकार्य होऊँगा या नहीं।

हम अपने अन्दर दो अंशोंके अस्तित्वको अनुभव कर सकते हैं। प्रथम अंश हमारा अपनापन है और द्वितीय अंश हमारा मनुष्यत्व है। यदि हमारा घर सचेतन होता तो वह अपने अन्दरके खण्डाकाश और उसीके साथ परिव्याप्त महाकाश दोनोंको ध्यानके द्वारा प्राप्त कर सकता। हमारे अन्दरका अपनापन और मनुष्यत्व उसी तरहका है। यदि दोनोंके बीचमें दुर्भेद्य दीवार खड़ी हो, तो आत्मा अन्धकूपमें निवास करता है।

प्रकृत साहित्यकारके अन्तःकरणमें यदि उसके अपनेपन और मनुष्यत्वके अन्दर किसी वस्तुका व्यवधान रहता है, तो वह कल्पनाके काचका पारदर्शक स्वच्छ व्यवधान होता है। उसके बीचमेंसे एक दूसरेको पहिचाननेमें कोई रुकावट नहीं होती। इतना ही क्यों, यही काच दूरवीक्षण और अनुवीक्षणके काचका काम करता रहता है—यह अदृश्य वस्तुको दृश्य और दूरकी वस्तुको निकटकी वस्तु बना देता है।

साहित्यकारका यही मनुष्यत्व ही सृजनकर्ता है। लेखकके निजत्वको वह अपना बना लेता है, क्षणिकको वह अमर कर लेता है और खण्डको सम्पूर्णता प्रदान कर देता है।

जगत्के ऊपर मनका कारखाना स्थापित है—और मनके ऊपर विश्व-मनका कारखाना—उसीकी ऊपरकी मंज़िलसे साहित्यकी उत्पत्ति होती है।

पहले ही कहा जा चुका है कि मनोराज्यकी बातके आ जानेपर सत्यताका निर्णय करना कठिन हो जाता है। कालेको काला प्रमाणित करना सुगम है, क्योंकि अधिकांशके लिए वह बिना किसी सन्देहके काला है; किन्तु अच्छेको अच्छा प्रमाणित करना उतना सुगम नहीं है, क्योंकि इस विषयमें अधिकांश मनुष्योंके एकमत होनेकी साक्षीका संग्रह करना कठिन है।

यहाँपर बहुतसी कठिनाइयाँ आ पड़ती हैं। अधिकांश लोग जिसे अच्छा समझते हैं, क्या वही सचमुच अच्छा है, या विशिष्ट सम्प्रदाय (दल) जिसे अच्छा समझता है वही सचमुच अच्छा है?

यदि विज्ञानकी बातको छोड़ दिया जाय, तो प्राकृत वस्तुओंके विषयमें इस बातको निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अधिकांश लोग जिसे काला समझते हैं वह सचमुच काला है। परीक्षाके द्वारा देखा गया है कि इस विषयमें मतभेदकी सम्भावना इतनी कम है कि अधिक साक्षियोंके इकट्ठा करनेकी कोई जरूरत नहीं होती।

किन्तु अच्छा अच्छा ही है और कितना अच्छा है, इस विषयमें मतोंकी इतनी अनेकता हुआ करती है कि उसके लिए किस तरह साक्षियाँ ली जानी चाहिएँ, इसका निर्णय करना कठिन होता है।

इसमें विशेष कठिनता इस कारण पैदा हो जाती है कि साहित्यकारोंकी श्रेष्ठ चेष्टा एकमात्र वर्तमान कालके लिए ही नहीं होती। उनका लक्ष्य चिरकालका समाज होता है। जिस वस्तुको वर्तमान और भविष्यत् कालके लिए लिखा जाता है, उसके लिए अधिकांश साक्षी और विचारक वर्तमान कालमेंसे किस प्रकार मिल सकेंगे?

यह प्रायः देखा जाता है कि जो वस्तु उस समय और उस स्थानकी होती है, वही अधिकांश लोगोंके निकट सर्वप्रधान आसनको प्राप्त कर लेती है। किसी एक विशेष समयके साक्षियोंको लेकर यदि हम साहित्यके विषयमें निर्णय करें, तो अविचार होनेकी सम्पूर्ण सम्भावना है। इसीलिए वर्तमानको अतिक्रम करके सर्व समयोंकी तरफ साहित्यको लक्ष्य बनाना पड़ता है।

समय-समयपर मनुष्यकी विचित्र शिक्षा, भाव और अवस्थाओंके परिवर्तन हो जानेपर भी जो रचनाएँ अपने गौरवकी रक्षा करती हुई चलती हैं, उनकी ही अग्नि-परीक्षा हो गई है। मन हमारे लिए सहज-गोचर नहीं है और यदि हम उसे थोड़ेसे समयके बीचमें बन्द करके देखें, तो अविश्राम गतिके बीचमेंसे नित्य और अनित्यका संग्रह कर लेना हमारे लिए दुस्साध्य होगा। इसी कारण अनन्त कालकी परिदर्शन-शालामें ही मनुष्यकी मानसिक वस्तुओंकी परीक्षा करनी पड़ती है—इसके सिवाय निश्चयसे निर्णय करनेका कोई श्रेष्ठतम उपाय नहीं है।

किन्तु कामचलाऊ उपाय न होनेसे साहित्यमें अराजकता उपस्थित हो जाती। हाईकोर्टकी अपील-अदालतमें जज-अदालतके समस्त फैसले ही पर्यस्त हो जाते हैं—ऐसी बात नहीं है। उसी तरह साहित्यमें भी जज-अदालतका कार्य बन्द नहीं हो सकता। अपीलकी अन्तिम मीमांसा अति-दीर्घकालसापेक्ष है—उस समय तक एक तरहका स्थूल विचार या फैसला मिला करता है और यदि अविचार–अन्याय भी हो जाय, तो इसके लिए कोई उपाय नहीं है।

जिस प्रकार साहित्यकी स्वाधीन रचनामें किसी मनुष्यकी प्रतिभा सर्व कालके प्रतिनिधित्वको ग्रहण करती है, सर्व कालके आसनपर अधिकार कर लेती है, उसी तरह विचार या न्यायकी प्रतिभा भी है। किन्हीं किन्हीं मनुष्योंकी परख करनेकी शक्ति भी स्वभावतः असामान्य हुआ करती है। जो वस्तु क्षणिक और संकीर्ण है, वह उन्हें प्रतारित नहीं कर सकती और जो वस्तु ध्रुव और चिरन्तन होती है, वे उसे मुहूर्तमें ही पहिचान लेते हैं। साहित्यकी नित्य वस्तुओंके साथ परिचय प्राप्त करके उन्होंने नित्यत्वके लक्षणोंको जान बूझकर और अलक्ष्यरूपसे अच्छी तरह अंतःकरणमें धारण कर लिया है। स्वभाव और शिक्षामें वे सर्वकालीन विचारकके पदको ग्रहण करनेके योग्य हैं।

इनके सिवाय व्यवसायी विचारक भी हैं। उनकी विद्या पुस्तकगत है। वे सरस्वतीके महलकी ड्योढ़ीपर बैठकर हल्ला गुल्ला, तर्जन गर्जन, और घूँसा मुक्कीका कारवार करते रहते हैं। अन्तःपुरके साथ उनका कुछ भी परिचय

नहीं होता। वे बहुधा गाड़ी और घड़ीकी चेनको देखकर ही मुग्ध हो जाते हैं; किन्तु सरस्वतीके अन्तःपुरचारी आत्मीय, फटे वेशमें दीनके समान माताके पास जाते हैं और वे उन्हें गोदमें बिठाकर उनके माथेको सूँघती हैं। कभी कभी वे उसके शुभ्र अञ्चलमें थोड़ीसी धूल भी डाल देते हैं—वे जिसे हँसकर झाड़कर फेंक देती हैं। इस धूलि और मट्टीके होते हुए भी देवी जिनको अपना कहकर गोदीमें बिठाती हैं, ड्योढ़ीके दरवान उन्हें किन लक्षणोंको देखकर पहिचानेंगे ? वे पोशाकको पहिचानते हैं, मनुष्यको नहीं पहिचानते। वे उत्पात कर सकते हैं; किन्तु विचार या न्याय करनेका भार उनपर नहीं है। सरस्वतीके भक्तोंका सत्कार करनेका भार जिनके ऊपर है, वे भी स्वयं सरस्वतीकी सन्तान हैं—वे घरके आदमी हैं, इसलिए घरके आदमीकी मर्यादाको जानते हैं।

सौन्दर्य-बोध

पहली आयुमें ब्रह्मचर्यके पालनके द्वारा नियम और संयमसे जीवनका विकास करना होगा। यदि भारतवर्षकी इस प्राचीन उपदेशकी बातको उठाया जाय, तो कई लोगोंके मनमें यह तर्क उठेगा कि "यह तो बड़ी कठोर साधना है। इसके द्वारा या तो कोई अत्यन्त सामर्थ्यवान् पुरुष तय्यार हो सकता है, या वासनाओंके जालको छिन्न-भिन्न करके कोई महान् साधु पुरुष बन सकता है; किन्तु इस साधनामें रसका स्थान कहाँ है? साहित्य, चित्र और सङ्गीत कहाँ चला गया? यदि मनुष्यका पूर्णरूपसे विकास करना हो, तो सौन्दर्य्य-चर्चाको छोड़ देनेसे कार्य नहीं चल सकता।"

यह ठीक है। सौन्दर्य अवश्य चाहिए। साधनाका विषय आत्महत्या तो हो ही नहीं सकता। साधनाका उद्देश्य आत्माका विकास ही है। वस्तुतः शिक्षाके समय ब्रह्मचर्यका पालन करना शुष्कताकी साधना नहीं है। खेतको मरुभूमि बनानेके लिए किसान मरमरकर मेहनत नहीं करता। किसान जब हलसे मट्टीको विदीर्ण करता है, सुहागेसे ढेलोंको कुचलकर एकसम करता है, और निड़ानीसे घास और छोटे छोटे पौधोंको उखाड़कर खेतको बिलकुल खाली कर देता है, तब अनाड़ी लोग यह सोच सकते हैं कि जमीनके ऊपर अत्याचार हो रहा है। किन्तु फलोंका विकास इसी तरह करना पड़ता है। इसी तरह यथार्थ भावसे रस-ग्रहणका अधिकारी होनेके लिए प्रारम्भमें कठिन खेतीकी आवश्यकता होती है। रसके मार्गमें ही रास्ता भुलानेवाले अनेक विघ्न हैं। इस रास्तेपर जो इन समस्त विपत्तियोंसे बचकर पूर्णताकी प्राप्ति करना चाहता है, नियम और संयमकी उसीको अधिक आवश्यकता है। इसके लिए ही इस नीरसताको स्वीकार कर लेना पड़ता है।

मनुष्यका यह दुर्भाग्य है कि उसका लक्ष्य प्रायः उपलक्ष्यके द्वारा दब जाता है। वह गान सीखना चाहता है, उस्तादी सीख बैठता है; धनी होना

चाहता है, रुपया इकट्ठा करके कृपापात्र हो उठता है; देशका हित चाहता है, कमेटीमें रिज़ोल्यूशन पास करके ही अपनेको कृतार्थ समझ लेता है।

इसी प्रकार हम देखते हैं कि नियम और संयम ही सारी जगहको घेर-कर बैठ जाते हैं। जो लोग नियमको ही प्राप्ति और पुण्य समझते हैं, वे नियमके लोभमें सर्वथा लालची हो जाते हैं और यह नियम-लोलुपता षड्रिपुके स्थानपर सप्तम रिपु बन जाती है।

यह मनुष्यकी मूर्खताका लक्षण है। सञ्चय करना प्रारम्भ करनेपर फिर वह ठहरना ही नहीं चाहता। विलायतके बारेमें सुना जाता है कि वहाँ कितने ही लोग पागलोंके समान देश-विदेशोंकी छाप मारी हुई डाककी टिकटोंका संग्रह किया करते हैं, इसके लिए खोज और व्ययका कोई अन्त ही नहीं है। इसी प्रकारके संग्रह-नशेसे पागल होकर कई लोग चीनके वर्त्तन और कई पुराने जूतोंका संग्रह करनेमें परिश्रम कर रहे हैं। उत्तरीय ध्रुवके ठीक केन्द्रस्थानमें जाकर किसी न किसी प्रकार एक ध्वजाको गाड़ना होगा—यह भी उनकी उसी प्रकारकी एक चेष्टा है। वहाँ बरफके खेतोंको छोड़कर और कुछ नहीं है; किन्तु मन लौटता नहीं है—कौन उस ध्रुवरूपी मरुके केन्द्रबिन्दुके कितने मील निकट जा पहुँचा है, उसीके हिसाबका वह नशा चढ़ाए हुए हैं। पहाड़पर जो मनुष्य जितने फुट ऊँचा चढ़ा है, वह उतने-ही-को एक प्राप्तिके रूपमें समझता है; इस शून्य-लाभके लिए कई लोग स्वयं मरते हैं और कितने ही अनिच्छुक मजदूरोंको ज़बर्दस्ती मारते हैं, तो भी ठहरना नहीं चाहते।

व्यर्थ व्यय और कष्ट जितना अधिक होता है, प्रयोजनरहित सञ्चय और परिणामहीन जयप्राप्तिका गौरव भी उतना ही बड़ा मालूम होता है। नियम-साधनाका लालच भी क्लेशके परिमाणको, विस्तारको मापकर आन-न्दका अनुभव करता है। यदि नियम-साधना कठिन शय्यापर सोकर प्रारम्भ की जाय, तो मट्टीपर बिछौना बिछाकर, फिर एकमात्र कम्बल बिछा-कर, फिर कम्बल छोड़कर एकमात्र मट्टीपर सोनेका लालच क्रमशः बढ़ता ही जाता है। कृच्छ्र-साधनाको ही उद्देश्य मानकर अन्तमें आत्मघातपर ही पूर्ण विराम करना पड़ता है। यह और कुछ नहीं है, निवृत्तिको ही एक

प्रचण्ड प्रवृत्ति बनाना है। गलेकी फाँसको तोड़नेकी चेष्टामें ही गलेकी फाँसको अकड़ाकर मरना है।

अतएव यदि नियम-पालन ही लोभकी वस्तु बना ली जाय, तो कठोरता-के दबावको बढ़ाकर स्वभावमेंसे सौन्दर्य-बोधको बिलकुल पीसकर बाहर किया जा सकता है—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। किन्तु पूर्णताकी प्राप्तिको ही उद्देश्य बनाकर यदि संयम-चर्चाको भी ठीक तरह संयत रक्खा जाय, तो मनुष्यत्वके किसी भी उपादानको क्षति नहीं पहुँचती और वे परिपुष्ट हो जाते हैं।

बात यह है कि सब तरहकी बुनियाद सख्त हुआ करती है। यदि वह सख्त न हो, तो सहारा नहीं दे सकती। जो कोई वस्तु धारण किया करती है, जो आकृतिदान करती है, वह कठिन ही होती है। मनुष्यका शरीर चाहे कितना ही नरम क्यों न हो, यदि सख्त हड्डियोंपर उसका आधार न होता, तो वह मांसपिण्डके रूपमें ही रहता, उसका स्वरूप खुलता नहीं। उसी प्रकार ज्ञानकी बुनियाद भी सख्त है, आनन्दका आधार भी सख्त है। ज्ञानकी बुनियाद यदि सख्त न होती तो वह एकमात्र असम्बद्ध स्वप्न होता और यदि आनन्दका आधार सख्त न होता तो वह बिलकुल पागल-पनेका उन्मत्त खेल होता।

यही सख्त बुनियाद संयम है। इसके अन्दर विचार है, बल है और इसमें निर्मम दृढ़ता है। यह देवताके समान एक हाथसे वर देता है और दूसरे हाथसे संहार करता है। यह संयम गढ़नेके समय जैसा मजबूत होता है, तोड़नेके समय भी वैसा ही कठिन रहता है। सौन्दर्यका पूर्ण मात्रामें भोग करनेके लिए इसी संयमकी आवश्यकता होती है। नहीं तो, यदि प्रवृत्ति असंयत हो तो जिस प्रकार बच्चा भोजनकी थाली[illegible] अन्न और शाक आदिको केवल शरीरमें लपेटकर, मट्टीमें बखेरकर उलटी ही [illegible] कर डालता है, उसके पेटमें बहुत ही थोड़ा जाता है; ठीक वही दशा हमारी भोगकी सामग्रीको लेकर हो जाती है। हम केवल [illegible] शरीरमें ही लपेट लेते हैं, उसको प्राप्त नहीं कर सकते।

सौन्दर्यकी सृष्टि करना भी असंयत कल्पनावृत्तिका कार्य नहीं है। सारे घरमें आग लगाकर कोई सन्ध्या-प्रदीपको नहीं जलाता। अग्नि आसानीसे हाथसे बाहर हो जाती है, इसलिए घरमें प्रकाश करते समय आगको काबूमें रखना चाहिए। प्रवृत्तिके विषयमें भी वही बात है। प्रवृत्तिको यदि हम एकदम पूर्णमात्रामें जल उठने दें, तो जिस सौन्दर्यको एकमात्र रङ्गीन बनानेके लिए उसकी आवश्यकता थी, उसको वह जलाकर राख कर डालती है, फूलोंको चुनने जाकर वह उनको छिन्न-भिन्न करके धूलिमें लुटा देती है।

यह बात सत्य है कि हमारी क्षुधित प्रवृत्ति संसारमें जहाँ पत्तल डालकर बैठती है, उसके नजदीक ही प्रायः एक सौन्दर्यका आयोजन देखा जाता है। फलसे केवल हमारा पेट ही नहीं भरता, किन्तु वह स्वादमें, गन्धमें और रूपमें सुन्दर होता है। यदि वह बिलकुल सुन्दर न होता, तो भी हम उसे पेटके लिए ही खाते। हमारी इतनी बड़ी आवश्यकताके होनेपर भी वह केवल पेट भरनेकी दृष्टिसे नहीं, सौन्दर्य-भोगकी दृष्टिसे भी आनन्द देता है। यह हमारी आवश्यकतासे अतिरिक्त लाभ है।

संसारमें सौन्दर्यके रूपमें यह जो हमारी ऊपरकी आय है, वह हमारे मनको किस ओर ले जा रही है? जिससे भूखकी तृप्तिकी प्रवृत्ति ही एकमात्र ईश्वर, एकमात्र ध्येय न बन जाय और जिससे हमारे मनपरसे इसकी फाँस कुछ ढीली हो जाय, सौन्दर्यकी वही चेष्टा देखी जाती है। चण्डी क्षुधा अग्निमूर्त्ति बनकर कह रही है कि तुम्हें खाना ही पड़ेगा—मैं और कुछ नहीं सुनना चाहती। उसी समय सौन्दर्य-लक्ष्मी हँसीभरे मुखसे सुधावर्षण करके अत्युग्र प्रयोजनकी लाल आँखोंको ओटमें कर देती है, और पेटकी आगको निचले तलेपर रखकर ऊपरले तलेपर आनन्द-भोजका मनोहर आयोजन करती है। अनिवार्य प्रयोजनमें मनुष्यकी एक तरहकी अवमानना है; किन्तु सौन्दर्य तो प्रयोजनसे परे है—इसी कारण वह हमारे अपमानको दूर कर देता है। सौन्दर्य हमारी क्षुधातृप्तिके साथ साथ एक ऊँचे स्वरको लगा रहा है। इसीलिए एक दिन जो असंयत जङ्गली थे, आज वे मनुष्य हो गए हैं, जो केवल इन्द्रियोंकी दुहाईको ही मानते थे, उन्होंने आज प्रेमके वशको मान लिया है। आज हम भूखके लगनेपर भी

पशुओंके समान, राक्षसोंके समान, जैसे-तैसे करके खानेको नहीं बैठ सकते। शोभा-स्वच्छता न रहनेपर हमारी खानेकी इच्छा ही नहीं रहती। इस-लिए अब हमारी खानेकी प्रवृत्ति ही एकमात्र नहीं रही है, शोभा-सुन्दरताने उसको नरम कर दिया है। हम बच्चेको शरम देकर कहते हैं कि छी! छी!! यों लालचीके समान खाते हो! इस तरह खाना देखनेमें अच्छा नहीं मालूम होता। सौन्दर्यने हमारी प्रवृत्तिको संयत कर दिया है। जगत्के साथ हमारा एकमात्र प्रयोजनका सम्बन्ध न रखकर उसने आनन्दके सम्बन्धको स्थापित कर दिया है। प्रयोजनके सम्बन्धमें हमारी दीनता है, दासत्व है। आनन्दके सम्बन्धमें ही हमारी मुक्ति है।

इसी कारण हम देखते हैं कि अन्ततः सौन्दर्य मनुष्यको संयमकी ओर ही खींच रहा है। मनुष्यको वह एक इस प्रकारके अमृतको देता है जिसके पीनेसे मनुष्य क्षुधाकी कर्कशताको दिन-ब-दिन जीतता जाता है। असंयमको अमङ्गलके रूपमें परित्याग करनेमें जिनका मन संतुष्ट नहीं है, वे उसे असुन्दरके रूपमें इच्छापूर्वक छोड़ना चाहते हैं।

जिस प्रकार सौन्दर्य हमें धीरे धीरे शोभनताकी ओर, संयमकी ओर खींच कर लाता है, संयम भी उसी प्रकार हमारे सौन्दर्य-भोगकी गम्भी-रताको बढ़ा देता है। स्तब्ध भावसे मनोयोग देना न जाननेपर हम सौन्द-र्यके मर्मस्थलसे रस प्राप्त नहीं कर सकते। एकपरायणा सती स्त्री ही तो प्रेमके यथार्थ सौन्दर्यकी उपलब्धि कर सकती है, व्यभिचारिणी स्त्री थोड़ा ही कर सकती है। सतीत्व वही चाञ्चल्यरहित संयम है, जिसके द्वारा गम्भीरतया प्रेमके निगूढ़ रसको प्राप्त किया जा सकता है। हमारी सौन्दर्यप्रियताके अन्दर भी यदि उस सतीत्वका संयम न रहे, तो क्या होता है? वह एक मात्र सौन्दर्यके बाहर ही बाहर चञ्चल होकर घूमती रहती है, मस्तीको आनन्द समझकर भूल करती है, और जिसको पाकर वह एकदम सब कुछ छोड़कर स्थिर होकर बैठ सकती थी, उसे नहीं प्राप्त करती। सच्चा सौन्दर्य समाहित साधकोंके निकट ही प्रत्यक्षगोचर होता है, लोलुप भोगियोंके निकट नहीं। जो लोग पेटू हैं, वे भोजनके रसज्ञ नहीं हो सकते। पौष्यराजाने ऋषिकुमार उतङ्कसे कहा—जाओ अन्तःपु-रमें जाओ, वहाँ महिषीको देख सकोगे। उतङ्क अन्तःपुरमें गया, किन्तु

महिषीको नहीं देख सका ! अशुद्ध होकर कोई भी सतीको नहीं देख सकता। उतङ्क उस समय शुद्ध नहीं था।

संसारके समस्त सौन्दर्यके, समस्त महिमाके अन्तःपुरमें जो सती लक्ष्मी विराजमान है, वह भी हमारे सम्मुख ही है; किन्तु शुद्ध न होनेके कारण हम उसे नहीं देख सकते। जब हम विलासमें खूब गोते खाते हैं, भोगके नशेमें मस्त होकर घूमते हैं, तब समस्त संसारकी आलोकवसना सती लक्ष्मी हमारी दृष्टिके सामनेसे अन्तर्हित हो जाती है।

इस बातको हम धर्म-नीति-प्रचारकी दृष्टिसे नहीं, किन्तु आनन्दकी दृष्टिसे, अँग्रेजीमें जिसे आर्ट कहते हैं—उसीकी दृष्टिसे कह रहे हैं। हमारे शास्त्रोंमें भी कहा है कि केवल धर्मके लिए ही नहीं किन्तु सुखके लिए भी संयत होना चाहिए। सुखार्थी संयतो भवेत्। अर्थात् यदि इच्छाकी चरितार्थता चाहते हो, तो इच्छाको संयममें रक्खो। यदि तुम सौन्दर्य-भोग करना चाहते हो तो भोग-लालसाको दमन करके, शुद्ध होकर, शान्त हो जाओ। यदि हम प्रवृत्तिको दमन करना नहीं जानते, तो प्रवृत्तिकी कृतकार्यताको सौन्दर्य-बोधकी कृतकृत्यता समझकर भूल करते हैं—जो वस्तु चित्तकी है, उसे दोनों हाथोंसे मसलकर समझते हैं कि मानों हमने उसे प्राप्त कर लिया। इसीलिए हमने कहा है कि सौन्दर्य-बोधको ठीक तरह जाग्रत करनेके लिए ब्रह्मचर्यकी साधनाकी आवश्यकता है।

जिनकी आँखोंमें धूल डालना कठिन है, वे शीघ्र ही सन्दिग्ध होकर कहेंगे कि ओह यह तो एकदम कविता हो गई। वे कहेंगे कि संसारमें हम प्रायः ही देखते हैं कि जो कलाकुशल गुणी लोग सौन्दर्यकी सृष्टि करते आए हैं, उनमेंसे अनेक ही पृथ्वीपर संयमके दृष्टान्तको रखकर नहीं गए हैं। उनका जीवनचरित्र पढ़नेके योग्य नहीं है। इसलिए कविताको छोड़कर इसी वास्तविक सत्यकी आलोचना करनी आवश्यक है।

हमारा कथन यह है कि हम वास्तविक वस्तुका इतना विश्वास क्यों करते हैं ? कारण यह है कि वह प्रत्यक्ष-गोचर है। किन्तु कई स्थानोंपर मनुष्यके विषयमें हम जिस चीज़को वास्तविक कहते हैं, उसका अधिकांश ही हमारे लिए प्रत्यक्ष-गोचर नहीं होता। कुछ थोड़ासा ही देखकर हम समझ

लेते हैं कि मानों हमने सब कुछ देख लिया। इसी कारण मनुष्यके द्वारा की गई वास्तविक घटनाओंको लेकर एक आदमी जिस वस्तुको सफेद कहता है, दूसरा यदि उसे मटियाला कहता तो भी कुछ ऐसी बात नहीं थी—लेकिन वह तो उसे एकदम काला कहता है। नेपोलियनको कोई देवता कहता है, कोई राक्षस कहता है। अकबरको कोई उदार प्रजाहितैषी कहता है और कोई उसे हिन्दू प्रजाके नाशका मूल कारण बतलाता है। कई कहते हैं कि वर्णभेदकी प्रथाने हमारे हिन्दू समाजकी रक्षा की है और कई कहते हैं कि इसी वर्णभेदकी प्रथाने हमको बिलकुल मट्टीमें मिला दिया है। और मजा यह कि दोनों ही पक्ष वास्तविक सत्यकी दुहाई देते हैं।

वास्तवमें मनुष्यके द्वारा किए गए कार्योंमें एक ही जगहपर कई उल्टी बातें पाई जाती हैं। मनुष्यको दिखाई देनेवाले अंशोंमें जो विपरीतता दिखाई देती है, उसका निगूढ़ समन्वय मनुष्यके न देखे हुए अंशोंमें ही निश्चयसे छुपा रहता है। इस कारण असली सत्य प्रत्यक्षके ऊपर ही तैरता रहता है, ऐसी बात नहीं है; वह अप्रत्यक्षके अन्दर ही डूबा रहता है। इसीलिए तो उसके विषयमें इतना तर्क और इतनी पार्टीबन्दी होती है और इसीलिए एक ही इतिहासको दोनों विरुद्धपक्षोंको विकालतनामा देना पड़ता है।

संसारके कलानिपुण गुणियोंके विषयमें भी जहाँ हम किसी उल्टी बातको देख पाते हैं, वहाँपर हमसे वास्तविक सत्यकी बड़ाई करके एकदम कुछ विरुद्ध बात कहकर बैठा नहीं जाता। सौन्दर्यसृष्टि दुर्बलतासे, चञ्चलतासे और असंयमसे पैदा होती है, यह एकदम परस्पर विरुद्ध बात है। यदि इस बारेमें वास्तविक घटनाकी भी साक्षी दी जाए, तो भी हम कहेंगे कि सारे साक्षियोंको हाजिर नहीं किया गया है और असली साक्षी ही भागा हुआ है। यदि हम देखें कि कोई डाकुओंका दल खूब उन्नति कर रहा है, तो इस वास्तविक घटनाकी सहायतासे यह सिद्धान्त स्थिर नहीं किया जा सकता है कि दस्यु-वृत्ति उन्नतिका मार्ग है। तब यह बात बिना किसी प्रमाणके कही जा सकती है कि दस्युओंकी जो आपाततः उन्नति देखी जाती है, उसका मूल कारण पारस्परिक एकता है, अर्थात् पार्टीमें, अपने दलमें, एक दूसरेके प्रति धर्मरक्षा की जाती है। किन्तु जब इस उन्नतिका नाश हो जाएगा, तो एकताके नष्ट हो जानेको ही इसका कारण नहीं कहा जायगा।

तब कहा जायगा कि दूसरोंके प्रति अधर्मका करना ही उनके नाशका कारण है। यदि हम देखें कि किसी मनुष्यने व्यापारमें बहुत रुपया कमाकर उड़ा दिया है, तो यह नहीं कहा जायगा कि जो रुपया उड़ा सकते हैं वे ही कमानेके रास्तेको भी जानते हैं; किन्तु हम यह कहेंगे कि रुपया कमानेमें वह आदमी बड़ा हिसाबी था। इस विषयमें उसकी संयम और विवेचनाकी शक्ति दूसरोंकी अपेक्षा असाधारण थी; किन्तु रुपया उड़ानेके समय उसकी उड़ानेकी प्रवृत्ति उसकी हिसाबी बुद्धिका उल्लंघन कर गई है।

कलावान् गुणी भी जहाँ वास्तवमें गुणी होते हैं, वहाँ वे तपस्वी होते हैं; वहाँ स्वेच्छाचार नहीं चल सकता; वहाँ चित्तकी साधना और संयमका होना अनिवार्य है। ऐसे पूर्ण बलशाली लोग बहुत ही थोड़े हैं, जो अपने धर्मज्ञानको सोलहों आना काममें लगा सकते हैं। मनुष्यमें कहीं न कहीं गिरावट आ ही जाती है। कारण यह है कि हम सब हीनतासे पूर्णताकी ओर आगे बढ़ रहे हैं—पूर्ण उन्नतिकी चरम सीमापर नहीं पहुँचे हैं। किन्तु जीवनके अन्दर हम जिस-किसी स्थायी बड़ी वस्तुको बनाते हैं—उसे हम अपनी आन्तरिक धर्मबुद्धिकी सहायतासे ही बनाते हैं, अपनी गिरावटकी सहायतासे नहीं। गुणी व्यक्तियोंने भी जहाँ अपनी कलाका निर्माण किया है, वहाँ अपने चरित्रको ही दिखाया है और जहाँ अपने जीवनको नष्ट किया है, वहाँ उनके चरित्रका अभाव ही दिखाई दिया है। वहाँ, उनके मनके अन्दर धर्मका जो सुन्दर आदर्श है, षड्रिपुओंके आकर्षणके कारण उससे विपरीत मार्गमें जानेसे वह पीड़ित हुए हैं। किसी वस्तुको बनानेमें संयमकी जरूरत होती है और नाश करनेके लिए असंयमकी। धारणाके लिए संयमकी आवश्यकता है और मिथ्या ज्ञानके लिए असंयमकी।

इस विषयमें यह बात कही जायगी कि तब तो एक ही मनुष्यके अन्दर सौन्दर्यके विकासकी क्षमता और चरित्रका असंयम एक ही साथ परिपक्वताको प्राप्त हो सकता है। यह तो ऐसी ही बात है जैसे कि शेर और गौ एक ही घाटपर पानी पिएँ।

शेर और गौ एक ही घाटपर पानी नहीं पीते—यह बात सत्य है; किन्तु कब? जब शेर भी अपनी पूर्णताको प्राप्त कर लेता है और गौ भी पूर्ण गौ

हो जाती है। बचपनमें दोनों एक साथ खेल भी सकते हैं; किन्तु बड़ा हो जानेपर शेर भी कूदकर झपटता है और गौ भी भागनेकी चेष्टा करती है।

इसी तरह सौन्दर्य-बोधकी यथार्थ परिपक्वता कभी भी प्रवृत्तिकी चञ्चलता और चित्तके असंयमके साथ एक ही क्षेत्रमें नहीं टिक सकती। दोनों परस्पर विरोधी हैं।

यदि कहो कि क्यों विरोधी हैं? तो इसका कारण है। विश्वामित्रने विधाताके साथ प्रतियोगिता करके एक नवीन जगत्‌की सृष्टि की थी। वह उनके क्रोध और दम्भकी सृष्टि थी—अतएव विश्वामित्र द्वारा बनाया हुआ जगत् विधाताके जगत्‌के साथ मेल नहीं खा सका, उसको चुनौती देकर आघात पहुँचाने लगा। वह जगत् मेलरहित और अजीब था—इसलिए चराचरके साथ स्वर नहीं मिला सका। अन्तमें दुःख देकर और दुःखी होकर वह नष्ट हो गया।

यदि हमारी प्रवृत्ति उग्र हो उठे, तो वह विधाताके संसारके विरुद्ध मानो स्वयं ही सृष्टि करने लगती है। तब चारों ओरके साथ उसका मेल नहीं होता। हमारा क्रोध, हमारा लोभ, अपने चारों ओर इस प्रकारके समस्त विकारोंको उत्पन्न कर लेता है जिससे छोटा बड़ा हो जाता है और बड़ा छोटा हो जाता है। क्षणकालीन वस्तु चिरकालीनके रूपमें दिखाई देती है और जो चिरकालीन वस्तु है वह दिखाई ही नहीं पड़ती। जिस वस्तुके लिए हमारे हृदयमें लालच पैदा हो जाता है, हम उस वस्तुको इस तरह मिथ्या बना डालते हैं कि वह संसारकी बड़ी बड़ी सचाइयोंको ढक लेती है, चन्द्र, सूर्य और तारोंको मलिन कर देती है। इस प्रकार हमारी सृष्टि विधाताके साथ विरोध किया करती है।

विचार करो कि एक नदी बह रही है। यद्यपि उसकी प्रत्येक तरङ्ग स्वतंत्रतासे माथा उठाती है, फिर भी, वे सब तरङ्गें आपसमें मिलकर एक ही समुद्रकी ओर गान गाते हुए जा रही हैं। कोई किसीको नहीं रोकती। किन्तु इसी बीचमें यदि कहीं भँवर पड़ जाय, तो वह एक ही जगहपर ठहरकर उन्मत्तके समान घूमा करती है। चलनेमें रुकावट डालकर, डुबानेका प्रयत्न करती है; समस्त नदीकी जो गति है, जो अभि-

प्राय है, उसमें विरोधको उत्पन्न कर वह एक जगह ठहरती भी नहीं और आगे भी नहीं बढ़ सकती।

यदि हमारी कोई प्रवृत्ति उन्मत्त हो उठे, तो वह हमें समस्त प्रवाहसे खींचकर एक ही बिन्दुके ऊपर फिराकर मार डालती है। हमारा चित्त उसी एक केन्द्रके चारों ओर बँधकर उसीके अन्दर अपना सब छोड़ना चाहता है और दूसरेका सब कुछ नष्ट करना चाहता है। इस उन्मत्तताके अन्दर कुछ लोग एक तरहकी सुन्दरताको देखते हैं। इतना ही क्यों, हम तो समझते हैं कि यूरोपका साहित्य इसी भँवर पड़नेकी प्रवृत्तिके घूर्णी-नृत्यका प्रलयोत्सव है। जिसका कोई परिणाम नहीं है, जिसको कहीं शान्ति नहीं मिलती—मानों उसीमें उसको विशेष सुख मिलता है। किन्तु इसको हम शिक्षाकी सम्पूर्णता नहीं कह सकते, यह स्वभावका विकार है। सङ्कीर्ण परिधिके अन्दर देखनेसे जिसको हम एकदम सुन्दर समझते हैं, जब उसको हम सबके साथ मिलाकर देखते हैं तो उसका भद्दापन दिखाई पड़ जाता है। शराबी शराबखानेमें समस्त संसारको भूलकर अपनी सभाको वैकुण्ठपुरी समझ लेता है; किन्तु एक अप्रमत्त दर्शक यदि उसको समस्त संसारके साथ मिलाकर देखता है, तो उसे उसकी बीभत्सताका परिज्ञान हो सकता है। हमारी प्रवृत्ति जब उत्पात करती है, तब यद्यपि उसके अन्दर एक तरहकी अस्वाभाविक चमक उत्पन्न हो जाती है; परन्तु यदि हम उसे बृहत् विश्वके साथ मिलाकर देखें तो उसके भद्देपनको देखनेमें देरी नहीं लगती। इस प्रकार स्थिर भावसे जो व्यक्ति बड़ी वस्तुके साथ छोटीको, सबके साथ हरएकको मिलाकर नहीं देख सकता, वह उत्तेजनाको ही आनन्द और विकारको ही सौन्दर्य समझ लेनेमें भूल करता है। इसीलिए सौन्दर्य-बोधको पूर्ण रीतिसे प्राप्त करनेके लिए चित्तके शान्त होनेकी आवश्यकता है और वह असंयमके द्वारा नहीं हो सकता।

सौन्दर्यबोधकी सम्पूर्णताका क्या उद्देश्य है? हमें अब इसपर विचार करना चाहिए।

यह देखा जाता है कि जंगली जातियाँ जिस वस्तुको सुन्दर समझकर उसका आदर करती हैं, सभ्य जातियाँ उस वस्तुको दूर फेंक देती हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि जङ्गली लोगोंका मन जितना सङ्कुचित

होता है, सभ्य लोगोंका मन उतना सङ्कुचित नहीं होता। अन्दर और बाहर, देश और कालमें सभ्य जातिका संसार ही बड़ा है और उसका हर-एक हिस्सा विचित्र होता है। इसी कारण जंगली लोगोंके संसारमें और सभ्य लोगोंके संसारमें एक वस्तुका माप और वज़न एक हो ही नहीं सकता।

चित्रकलाके विषयमें जो लोग अनाड़ी हैं, वे एक चित्रपटपर खूब तड़क-भड़क, रङ्ग और गोलगोल आकृतिको देखकर ही प्रसन्न हो जाते हैं। वे चित्रको बृहत् क्षेत्रमें रखकर नहीं देखते। इस विषयमें उनमें कोई इस प्रकारकी उन्नतर विचारबुद्धि नहीं है, जो उनकी इन्द्रियोंकी लगामको पकड़कर रक्खे। प्रारम्भमें ही उन्हें जो बुलाते हैं, वे उन्हींके निकट अपनेको पकड़ा देते हैं। राजमहलकी ड्योढ़ीके दरवानजीकी चपरास और भरी हुई दाढ़ीको देखकर वे उसीको सर्वप्रधान व्यक्ति समझकर मुग्ध हो जाते हैं; ड्योढ़ीको पार करके सभामें जानेकी आवश्यकताको वे अनुभव ही नहीं करते। किन्तु जो लोग इतने ग्रामीण नहीं हैं, वे इतनी जल्दी मुग्ध नहीं हो जाते। वे जानते हैं कि दरवानजीकी महिमा एकदम बढ़-चढ़कर दिखाई देती है, क्योंकि आँखोंको बड़ी दिखानेके सिवाय और उसका कुछ भी मूल्य नहीं है। राजाका बड़प्पन एकमात्र दिख जानेकी वस्तु नहीं है, उसको ध्यानसे देखना पड़ता है। इसी कारण राजाके बड़प्पनमें एक प्रकारकी शक्ति, शान्ति और गम्भीरता है।

इसलिए जो व्यक्ति समझदार है, वह चित्रमें रङ्गकी तड़क-भड़कको देखकर मुग्ध नहीं हो जाता। वह मुख्यके साथ गौणका, बीचके साथ चारों ओरका, और आगेके साथ पीछेके सामञ्जस्यको ढूँढ़ा करता है। रङ्ग आँखोंको खींचता है, किन्तु सामञ्जस्यकी सुन्दरताको देखनेके लिए मनकी आवश्यकता है। उसको गम्भीर रूपसे देखना पड़ता है, इसलिए उसका आनन्द भी गम्भीरतर होता है।

इसी कारण देखा जाता है कि कई कलानिपुण गुणी लोग बाह्य क्षुद्र लालित्यको स्थान नहीं देना चाहते और इसलिए उनकी रचनामें एक तरहकी कठोरता होती है। उनके ध्रुपदमें खयालकी तान नहीं होती।

उनकी रचनाको बाहरसे एकदम खाली देखकर साधारण आदमी तो उसको छोड़कर जाना चाहते हैं, पर विशिष्ट लोगोंके चित्तको उसी निर्मल रिक्तताका गम्भीरतर ऐश्वर्य ही बड़ा आनन्द देता है।

अतएव केवल आँखोंके द्वारा नहीं, उसके पीछे यदि मनकी दृष्टि मिली हुई न हो, तो सौन्दर्यको अच्छी तरह नहीं देखा जा सकता। इस मानसिक दृष्टिको प्राप्त करना विशेष शिक्षाका कार्य है।

फिर मनकी भी कई परतें हैं। केवल बुद्धि और विचारके द्वारा हम जो कुछ देख पाते हैं, उसके साथ यदि हम हृदयके भावोंको जोड़ दें, तो सीमा कुछ और बढ़ जाती है—धर्मबुद्धिको मिला देनेसे आँखें बहुत दूरी तक देखने लगती हैं और जब अध्यात्मदृष्टि खुल जाती है, तो फिर दृष्टिक्षेत्रकी कहीं सीमा ही नहीं मिलती।

इसलिए, देखनेमें जो वस्तु हमारे मनके बड़े हिस्सेपर अधिकार कर लेती है, उसीको देखनेसे हमें अधिक तृप्ति होती है। फूलके सौन्दर्यकी अपेक्षा मनुष्यका मुख हमें अधिक आकर्षित करता है। क्योंकि मनुष्यके मुखमें केवल आकृतिकी ही सुन्दरता नहीं होती, उसमें चेतनाकी दीप्ति, बुद्धिकी स्फूर्ति और हृदयका लावण्य होता है; वह हमारी चेतनता बुद्धि और हृदयपर अधिकार कर लेता है।......

मनुष्योंके अन्दर जो नरोत्तम हैं, पृथिवीतलपर जो ईश्वरके मङ्गलमय स्वरूपके प्रकाशरूप हैं, वे हमारे मनको इतनी दूर तक खींच लेते हैं कि वहाँ हम अपनेको ही नहीं पाते। इसीलिए जो राजपुत्र मनुष्योंको दुःखोंसे छुड़ानेके लिए राज्यको छोड़कर चला गया, उसकी सुन्दरताने मनुष्यको कितने काव्योंके लिखने और चित्रोंके बनानेमें लगाया है, इसकी कोई सीमा नहीं है।

इस स्थानपर कई सन्देह करनेवाले लोग कहेंगे कि सौन्दर्यसे यह तो धर्मनीतिकी बात चल पड़ी। दोनोंको मिलानेकी क्या आवश्यकता है? जो अच्छा है वह अच्छा है और जो सुन्दर है वह सुन्दर है। अच्छी वस्तु हमारे मनको एक तरह खींचती है और सुन्दर वस्तु और ही तरह हमारे मनको खींचती है। दोनोंकी आकर्षणकी प्रणाली जुदा जुदा है, इसीलिए

भाषामें इन दोनोंको दो नाम दिए गए हैं। जो चीज अच्छी है उसकी उपयोगिता हमको मुग्ध करती है और जो वस्तु सुन्दर है वह हमें क्यों मुग्ध करती है—यह हम नहीं जानते।

इस विषयमें हमको यह कहना है कि मङ्गलमय वस्तु हमारा भला करती है—इसलिए हम उसे भली कहते हैं—इतना कहनेमें हम सारी बातको पूर्णतया नहीं कहते। वास्तवमें जो भी वस्तु मङ्गलरूप होती है, वह हमारी आवश्यकताको पूरा करती है और सुन्दर भी होती है, अर्थात् उस वस्तुके द्वारा अपना कार्य हो जानेके अतिरिक्त भी उसमें एक तरहका आकर्षण होता है, जिसका कोई कारण नहीं होता। नीतिके जो पण्डित हैं, वे उस मङ्गलमय वस्तुका संसारमें नीतिकी दृष्टिसे प्रचार करनेका प्रयत्न करते हैं और कविलोग मङ्गलको उसकी अनिर्वचनीय सौन्दर्यकी मूर्त्तिमें लोगोंके निकट प्रकाशित किया करते हैं।

वास्तवमें हम जो मङ्गलको सुन्दर कहते हैं—वह आवश्यकताको पूर्ण करनेकी दृष्टिसे नहीं। भात हमारे उपयोगमें आता है, कपड़ा, छाता और जूता आदि भी हमारे उपयोगमें आते हैं; लेकिन वे हमारे हृदयमें सौन्दर्य-को पुलकित नहीं करते। किन्तु लक्ष्मण रामके साथ-साथ वनको गए, यह बात हमारे मनके अन्दर वीणाके तारोंके समान एक सङ्गीतको उठा देती है। इसको सुन्दर भाषामें, सुन्दर छन्दोंमें, सुन्दर रीतिसे सजाकर रखना उचित है। यदि छोटा भाई बड़े भाईकी सेवा करे तो इससे समाजका हित होता है—इसलिए हम ऐसा नहीं कहते, किन्तु क्योंकि यह सुन्दर है इसलिए हम ऐसा कहते हैं। यह बात सुन्दर क्यों है? क्योंकि जितनी भी मङ्गलमय वस्तुएँ हैं, उनका समस्त संसारके साथ एक अत्यन्त गम्भीर सामञ्जस्य है, समस्त मनुष्योंके मनके साथ उनका एक निगूढ़ मेल है। सत्यके साथ मङ्गलमयके पूर्ण सामञ्जस्यको यदि हम देख सकें, तो फिर सौन्दर्य हमारे लिए अगोचर नहीं रहता। करुणा सुन्दर है, क्षमा सुन्दर है, प्रेम सुन्दर है। शतदल कमलके साथ, पूर्णिमाके चाँदके साथ, उसकी तुलना की जाती है। शतदल कमलके समान और पूर्णिमाके चाँदके समान उसके अन्दर और चारों ओरके संसारके अन्दर उसकी एक विरोधहीन

सुषमा है; वह सबके अनुकूल है और सब उसके अनुकूल हैं। हमारे पुराणोंमें लक्ष्मी केवल सौन्दर्य और ऐश्वर्यकी ही देवी नहीं है, वह मङ्गलकी भी देवी है। सौन्दर्यमूर्त्ति ही मङ्गलकी पूर्ण मूर्त्ति है और मङ्गलमूर्त्ति ही सौन्दर्यका पूर्ण स्वरूप है।

अब हम इस बातपर विचार करते हैं कि सौन्दर्य और मङ्गलका कहाँ मेल होता है। हम पहले ही दिखा चुके हैं कि सौन्दर्य प्रयोजनसे परे है। इसीलिए हम उसको ऐश्वर्य कहते हैं। इसी कारण वह हमें कोरे स्वार्थ-साधनकी दरिद्रतासे प्रेमके अन्दर मुक्ति दिलाता है।

मङ्गलके अन्दर हमें वह ऐश्वर्य दिखाई देता है। जब हम देखते हैं कि किसी वीर पुरुषने धर्मके लिए स्वार्थ-त्याग कर दिया है, प्राण दे दिए हैं, तब एक ऐसा आश्चर्य-पदार्थ हमारी दृष्टिमें आता है जो हमारे सुखदुःखसे बड़ा होता है, हमारे स्वार्थकी अपेक्षा बृहत् होता है और हमारे प्राणोंकी अपेक्षा भी महान् होता है। मङ्गल अपने इसी ऐश्वर्यके बलसे हानि और क्लेशको हानि और क्लेश समझता ही नहीं है। स्वार्थकी हानिसे उसका कुछ नुकसान नहीं होता। इसलिए जिस प्रकार सौन्दर्य हमको अपनी इच्छासे त्याग करानेमें प्रवृत्त करता है, मङ्गल भी उसी प्रकार करता है। सौन्दर्य जगत्की नाना घटनाओंमें ईश्वरके ऐश्वर्यको दिखाता है। मङ्गल भी मनुष्यके जीवनके अन्दर वही कार्य करता रहता है। मङ्गल सौन्दर्यको एकमात्र आँखोंसे नहीं दिखाता, एकमात्र बुद्धिके द्वारा नहीं समझाता, उसको वह अत्यन्त व्यापक और गम्भीर बनाकर मनुष्यके निकट ले आता है। वास्तवमें मङ्गल मनुष्यके पास रहनेवाला आन्तरिक सौन्दर्य है, इसी कारण हम उसे बहुधा सुगमतया सुन्दर रूपमें नहीं समझ सकते; किन्तु जब समझते हैं तो हमारे प्राण एक वर्षाकी नदीके समान भर उठते हैं। उस समय हमें उसकी अपेक्षा कोई भी वस्तु अधिक सुन्दर नहीं प्रतीत होती।

फूलकी पँखुड़ियों, दीपकोंकी पँक्तियों और चाँदी सोनेकी थालियोंसे यदि भोजनगृह सजा हुआ हो तो अच्छा है; किन्तु यदि निमंत्रित व्यक्तिको यजमानसे आदर न मिले, प्रसन्नता न प्राप्त हो, तो उसे यह सब सजावट और सुन्दरता अच्छी नहीं लगती—क्योंकि यही प्रसन्नता ही अन्दरका

ऐश्वर्य है। प्रसन्नताकी मीठी हँसी, मीठे बचन और मीठा बरताव इतना सुन्दर होता है कि वह केलेके पत्तेका, सोनेकी थालीकी अपेक्षा, अधिक मूल्य करता है। सब ही उसका अधिक मूल्य करते हैं, यह नहीं कहा जा सकता। बहुतसे लोग एक बहुत आडम्बरवाले भोजनमें अपमानपूर्वक भी सम्मिलित होनेके लिए तैयार देखे जाते हैं। इसलिए कि भोजनसे बड़े तात्पर्यको, उससे बड़े सौन्दर्यको वे जानते ही नहीं हैं। वास्तवमें भोजन और सजावट ही सहभोजनके प्रधान अङ्ग नहीं हैं। कलीकी पँखुड़ियाँ जिस तरह अपने अन्दर ही सङ्कुचित रहती हैं—उसी तरह स्वार्थमें लगे हुए मनुष्यकी शक्तियाँ हमेशा अपनी ओर सङ्कुचित रहती हैं। एक दिन उसके बन्धनको ढीला करके, उसको दूसरोंकी ओर अभिमुख करते ही विकसित फूलके समान संसारकी ओर उसके मिलनेकी मधुरतासे भरा अति सुन्दर विस्तार होता है। यज्ञके उस आन्तरिक गम्भीर सौन्दर्यको जो व्यक्ति सम्पूर्णतया नहीं देख सकता, वह भोज्य और पेयकी अधिकता और सजावटके आडम्बरको ही बड़ा समझ लेता है। उसकी असंयत प्रवृत्ति, उसका दान-दक्षिणा और खाने-पीनेके प्रति अतिशय लालच, यज्ञकी विशाल मधुरताको अच्छी तरह देखने नहीं देता।

शास्त्रमें कहा है, शक्तस्य भूषणं क्षमा। क्षमा ही शक्तिमान्‌का भूषण है; किन्तु क्षमा-प्रकाशके अन्दर ही सौन्दर्यको अनुभव करना सबका कार्य नहीं है। बल्कि साधारण मूर्ख मनुष्य शक्तिका उपद्रव देखकर ही उसके प्रति श्रद्धालु होते हैं। लज्जा स्त्रियोंका भूषण है; किन्तु सजावटकी अपेक्षा इस लज्जाके सौन्दर्यको कौन देख सकता है? उसे वही व्यक्ति देख सकता है, जो सौन्दर्यको सङ्कीर्णरूपसे नहीं देखता। सङ्कीर्ण प्रकाशकी तरङ्गें जब विस्तीर्ण प्रकाशमें शान्त हो जाती हैं, तब उस महान् सौन्दर्यको देखनेके लिए ऊँचे स्थानसे अच्छी तरह देखना चाहिए। उस प्रकार देखनेके लिए मनुष्यको शिक्षाकी आवश्यकता है, गम्भीरताकी आवश्यकता है और आन्तरिक शान्तिकी आवश्यकता है।

हमारे देशके प्राचीन कवियोंने गर्भिणी स्त्रीकी सुन्दरताके वर्णन करनेमें कहीं भी सङ्कोच नहीं किया है; परन्तु यूरोपके कवि इस विषयमें कुछ लज्जा और दीनता अनुभव करते हैं। वास्तवमें गर्भिणी स्त्रीकी जो

कान्ति है, उसमें नेत्रोत्सव तो वैसा नहीं होता; परन्तु स्त्रीत्वकी अन्तिम सार्थकताकी प्राप्ति जब नज़दीक आ जाती है, तब उसकी प्रतीक्षा ही स्त्रीकी मूर्तिमें एक गौरवको भर देती है । इस दृश्यमें आँखोंके विलासमें जितनी कमी हो जाती है; मानसिक भक्ति उसकी अपेक्षा बहुत अधिक पूर्ति कर देती है। समस्त वर्षाऋतुमें झड़कर शरद्ऋतुमें जो हलके बादल बिना किसी मतलबके हवाके लगनेसे उड़ते फिरते हैं, उनपर जब अस्तंगामी सूर्यका प्रकाश पड़ता है, तो रङ्गोंकी छटासे आँखें चौंधिया जाती हैं। किन्तु आषाढ़के जो नए घने बादल, पयस्विनी काली गौ-के समान, आसन्न वृष्टिके भारसे बिलकुल मन्थर हो जाते हैं; जिनकी ढेरकी ढेर सजलताके बीच वर्णवैचित्र्यकी चञ्चलता कहीं दिखाई नहीं पड़ती, वह हमारे मनको चारों ओरसे इस तरहसे भर देते हैं कि मानों कहींपर भी थोड़ी-सी रिक्तता नहीं रह जाती। उनकी स्निग्ध नीलिमाके अन्दर, धरणीकी तापशान्ति, शस्यक्षेत्रोंकी दीनताकी निवृत्ति और नदी-सरोवरोंको कृशतासे छुड़ानेका उदार आश्वासन मिला हुआ होता है; मङ्गलमय परिपूर्णताकी गम्भीर मधुरतामें वह स्तब्ध रहता है। कालिदास वसन्तकी वायुको विरही यक्षके दूत-कार्यमें नियुक्त कर सकते थे । लोकमें प्रसिद्ध है कि इस कार्यमें वे सिद्धहस्त थे; विशेषतया उत्तरकी ओर जानेके लिए दक्षिण वायुको प्रतिकूल गति न करनी पड़ती। किन्तु कविने आषाढ़के प्रथम दिवसके नवीन मेघको ही पसन्द किया—उसे जो संसारके तापको दूर करता है। क्या वह केवल प्रणयीके संदेशको ही प्रणयिनीके कानके पास जाकर कहेगा ? वह तो सारे रास्तेकी नदियों, पहाड़ों और जङ्गलोंके ऊपर एक विचित्र सम्पूर्णताका सञ्चार करता हुआ जाएगा। कदम्ब फूलेंगे, जम्बु-कुञ्ज भर उठेंगे, बकपङ्क्तियाँ उड़ चलेंगी, भरी हुई नदीका जल छल-छल करके किनारेके बेतके जङ्गलके साथ टकराएगा और गाँवकी स्त्रियोंकी, भ्रूविलाससे अपरिचित, प्रीतिसे स्निग्ध आँखोंके दृष्टिपातसे आषाढ़का आकाश मानों और भी अधिक शीतल हो जायगा। विरहीके संदेश भेजनेको, समस्त पृथ्वीके मङ्गल-व्यापारके साथ, जब पद-पदपर ग्रथित कर दिया है, तभी कविके सौन्दर्य-रस-पिपासु चित्तको तृप्ति प्राप्त हुई है।

कुमार-सम्भवमें कविने अकाल वसन्तके आकस्मिक उत्सव और काम-देवकी मोहवर्षाके अन्दर हर-पार्वतीके मिलनको पराकाष्ठा तक नहीं पहुँचाया है। स्त्री और पुरुषके उन्मत्त संघातके द्वारा जो अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उस प्रलयाग्निमें पहले उसने शान्तिकी धाराकी वृष्टि की है और तभी वह मिलनकी प्रतिष्ठा कर सका है। कविने पार्वतीके प्रेमकी सबसे अधिक कमनीय मूर्ति तपस्याकी अग्निके द्वारा ही उज्ज्वल करके दिखाई है। उसके आगे वसन्तकी पुष्प-संपत्ति मुरझा गई है और कोयलकी मुखरता मौन हो गई है। अभिज्ञान-शाकुन्तलमें भी प्रियतमा जहाँ माता हो गई है, वासनाकी चञ्चलता जहाँ वेदनाकी तपस्यामें गम्भीर हो गई है, जहाँ अनुतापके साथ क्षमा आ मिली है, वहीं राजदम्पतीका मिलन सार्थक हुआ है। प्रथम मिलनमें प्रलय है और द्वितीय मिलनमें परित्राण (मुक्ति) है। इन दोनों ही काव्योंमें शान्तिके अन्दर, मङ्गलके बीच, जहाँ भी कविने सौन्दर्यकी सम्पूर्णता दिखाई है, वहीं उसकी तूलिका वर्णविरल (कम रङ्ग-वाली) और वीणा अप्रमत्त (सतर्क) हो गई है।

वास्तवमें सौन्दर्य जिस स्थानपर पूर्ण विकसित होता है, वहाँ अपनी प्रगल्भताको छोड़ देता है। वहींपर फूल, अपनी वर्ण-गन्धकी अधिकताको, फलकी गम्भीर मधुरतामें परिणत कर देता है और उसी परिणतिमें ही—उसी चरम विकासमें ही—सौन्दर्य और मङ्गलका मिलाप हो जाता है।

जिन्होंने सौन्दर्य और मङ्गलके इस सम्मिलनको देखा है, वे भोगविलास-के साथ सौन्दर्यको कभी भी मिलाकर नहीं रख सकते। उनकी जीवन-यात्राकी सामग्री साधारण होती है और वह सौन्दर्यबोधके अभावके कारण नहीं, प्रकर्षके कारण होती है। अशोकका प्रमोद-उद्यान कहाँ था? उसके राजमहलकी दीवालोंका आज कोई भी चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता है; किन्तु उसके द्वारा बनवाए गए स्तूप और स्तम्भ बुद्ध-गयाके बोधिवटके पास खड़े हुए हैं। उनकी शिल्पकला भी मामूली नहीं है। जिस पुण्यस्थान पर भगवान् बुद्धने मनुष्योंके दुःखोंकी निवृत्तिके मार्गका आविष्कार किया था, राजचक्रवर्ती अशोकने वहीं, उसी परम मङ्गलके स्मरणस्थानमें ही, कलाके सौन्दर्यकी प्रतिष्ठा की है। उन्होंने अपने भोगको इस

प्रकार पूजाका अर्घ्य नहीं दिया। इस भारतवर्षमें, कितनी दुर्गम पहाड़की चोटियों और निर्जन समुद्रके किनारोंपर, कितने देवालय और कितनी कला-सुन्दर पुण्यकीर्तियाँ दिखलाई पड़ती हैं; किन्तु हिन्दू राजाओंके विलास-भवनोंके स्मृतिचिह्न कहाँ गये? राजधानीके शहरोंको छोड़कर, जङ्गल और पहाड़ोंमें इन समस्त सुन्दरताओंकी स्थापनाका क्या कारण है? कारण यह है कि वहाँ मनुष्यने अपनी सौन्दर्य-सृष्टिके द्वारा अपनेसे महान्‌के प्रति विस्मयपूर्ण भक्तिको प्रकट किया है। मनुष्यके द्वारा रचित सौन्दर्य खड़ा होकर अपनेसे बड़े सौन्दर्यको दोनों हाथ जोड़कर नमस्कार कर रहा है। अपने समस्त महत्त्वके द्वारा अपनेसे अत्यन्त महान्‌का नीरवतासे प्रचार कर रहा है। मनुष्यने इस समस्त कलापरिपूर्ण निस्तब्ध भाषाके द्वारा कहा है—देखो, अच्छी तरह देखो! जो सुन्दर है उसको देखो और जो महान् है उसको देखो! वह यह नहीं कहना चाहता कि मैं कितना बड़ा भोगी हूँ—इसको देख लो! वह यह नहीं कहता कि जीवित अवस्थामें मैं जहाँ विहार करता था उस जगहको देखो और मृत अवस्थामें, मैं जहाँ मट्टीमें मिल गया हूँ वहाँ, मेरी महिमाको देखो। हम नहीं कह सकते कि प्राचीन हिन्दू राजा अपने प्रमोद-भवनोंको इस तरह सजाते थे या नहीं; अन्ततः यह बात निश्चित है कि हिन्दू जातिने उनकी आदर करके रक्षा नहीं की। जिनके गौरवको फैलानेके लिए प्रमोद-भवन प्रतिष्ठित हुए थे, उन्हींके साथ वे धूलिमें मिल गए! किन्तु जहाँ मनुष्यकी शक्ति और भक्ति अपनी सौन्दर्य-रचनाको भगवान्‌के मङ्गल रूपके बाईं ओर बैठाकर धन्य हुई है, वहाँ उन मिलन-मन्दिरोंकी, अति दुर्गमस्थानोंमें भी हमने रक्षा करनेकी चेष्टा की है। मङ्गलके साथ ही सौन्दर्यका और विष्णुके साथ ही लक्ष्मीका मिलन पूर्ण होता है। समस्त सभ्यताओंके अन्दर यही भाव छुपा हुआ है। एक दिन निश्चयसे आएगा, जब सौन्दर्य व्यक्तिगत स्वार्थोंमें बँधा हुआ, ईर्ष्याके द्वारा विद्ध और भोगके द्वारा जीर्ण नहीं होगा, शान्ति और मङ्गलके अन्दर निर्मल भावसे स्फूर्ति प्राप्त करेगा। यदि सौन्दर्यको हम अपनी वासनाओं और लालचसे हटाकर न देखें, तो हम उसे पूर्णतया नहीं देख सकते। अशिक्षित और असंयत होकर हम जिस सौन्दर्यको पूरी तौरपर नहीं देखते, उससे

हमें तृप्ति नहीं होती, हमारी तृष्णा ही बढ़ जाती है। भोजन नहीं मिलता, शराबके पीनेसे स्वास्थ्यकर भोजनके प्रति भी हमारी रुचि नष्ट हो जाती है।

इसी डरसे नीतिके प्रचारक सौन्दर्यको दूरहीसे नमस्कार करनेका उपदेश देते हैं। पीछे नुकसान न हो, इसलिए लाभके रास्तेपर चलनेसे भी मना करते हैं। किन्तु सत्य उपदेश यही है कि सौन्दर्यका पूर्ण अधिकार पानेके लिए ही संयमकी साधना करनी चाहिए। ब्रह्मचर्यका पालन भी इसीलिए करना पड़ता है, शुष्कताकी प्राप्तिके लिए नहीं।

जब साधनाकी बात उठी है, तब यह प्रश्न हो सकता है कि इस साधनाकी सिद्धि क्या है? इसका अन्त किस जगहपर है? हम अपनी समस्त कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंके उद्देश्यको समझ सकते हैं; किन्तु सौन्दर्य-बोधने हमारे मनमें क्यों स्थान पाया है?

इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए सौन्दर्यका मार्ग किस ओरको जा रहा है, इसपर फिर एक वार संक्षेपसे आलोचना करनी आवश्यक है।

सौन्दर्य-बोध जब एक मात्र हमारी इन्द्रियोंके द्वारा ही होता है, तब हम जिसे सुन्दर कहते हैं वह अत्यन्त स्पष्ट होता है, अर्थात् देखने मात्रसे आँखें उसे पकड़ लेती हैं। वहाँ हमारे सामने एक ओर सुन्दर और दूसरी ओर असुन्दर इन दोनोंका द्वन्द्व अच्छी तरह सुनिर्दिष्ट रहता है। उसके बाद जब बुद्धि भी सौन्दर्य-बोधमें सहायक होती है तब सुन्दर और असुन्दर-का भेद मिट जाता है। तब जो वस्तु हमारे मनको खींचती है, वह सम्भवतः आँख खोलते ही नजर आने योग्य नहीं भी मालूम हो। आरम्भके साथ अन्तका, मुख्यके साथ गौणका और एक अंशके साथ दूसरे अंशका गम्भीरतम सामञ्जस्य देखनेसे हमें जहाँ आनन्दकी प्राप्ति होती है, वहाँ हम आँखको भुलाने वाले सौन्दर्यके दास-पत्रको फिर और नहीं मानते। उसके बाद जब कल्याण-बुद्धिका सम्मिलन हो जाता है, तब हमारे मनका अधिकार और भी बढ़ जाता है, सुन्दर और असुन्दरका द्वन्द्व और भी नष्ट हो जाता है। तब कल्याणी सती सुन्दर रूपमें दिखाई देती है, केवल रूपवती नहीं। जहाँ धैर्य, वीर्य, क्षमा और प्रेमका प्रकाश होता है, वहाँ रत्नोंके आडम्बरकी आवश्यकता ही हमें अनुभव नहीं होती। कुमार-सम्भव

काव्यमें छद्मवेशी महादेवने तपस्विनी उमाके पास जब शङ्करके रूप-गुण-वय आदिकी निन्दा की, तब उमाने कहा—"ममात्र भावैकरसं मनः स्थितम्"—उनके प्रति मेरा हृदय एक मात्र भावोंके रसमें अवस्थित है। इसलिए आनन्दके लिए और किसी साधनकी आवश्यकता ही नहीं है। भाव-रसमें सुन्दर और असुन्दरका कठिन विच्छेद दूर हो जाता है।

तो भी मङ्गलके अन्दर भी एक तरहका द्वन्द्व है। मङ्गलके ज्ञानके लिए अच्छे और बुरेके संघर्षकी आवश्यकता है। किन्तु इस प्रकारके द्वन्द्वके अन्दर किसीकी भी परिसमाप्ति नही हो सकती। दोनोंका परिणाम एक ही होता है—दो नहीं। जब तक नदी चलती है, तब तक उसके दोनों किनारोंकी जरूरत होती है; परन्तु जहाँपर उसका चलना समाप्त हो जाता है, वहाँ एक मात्र अकूल अनन्त समुद्र होता है। चलनेकी ओरसे नदीमें द्वन्द्व होता है, समाप्तिकी ओरसे द्वन्द्वका अन्त हो जाता है। अग्निको जलानेके समय दोनों लकड़ियोंको रगड़ना पड़ता है; परन्तु जब आग जल उठती है तब इन दोनों लकड़ियोंका पारस्परिक संघर्ष समाप्त हो जाता है। हमारा सौन्दर्य-बोध भी ठीक इसी प्रकार यदि इन्द्रियोंके सुखकर और असुखकर, जीवनके मङ्गलकर और अमङ्गलकर इन दोनों प्रकारके घर्षणोंके द्वन्द्वमें चिनगारियाँ उड़ाते उड़ाते यदि एक दिन पूर्णतया जल उठे, तो उसकी समस्त आंशिकता और आलोड़न निरस्त हो जाता है।

तब क्या होता है? तब द्वन्द्वका भेद नष्ट हो जाता है और सब कुछ सुन्दर हो जाता है। तब सत्य और सुन्दर एक ही हो जाते हैं। तब हम समझ सकते हैं कि सत्यकी यथार्थ प्राप्ति ही आनन्द है, वही चरम सौन्दर्य है।

इस चञ्चल संसारमें हमें सत्यका स्वाद किस जगह मिलता है? जहाँ हमारा मन निवास करता है। रास्तेके लोग आते जाते रहते हैं, वे हमारे निकट छाया हैं, हमें उनका ज्ञान अत्यन्त कम है, इसलिए हमें उनके विषयमें आनन्द नहीं होता। एक बन्धुका सत्य हमारे निकट गहरा होता है और वही सत्य हमारे मनको सहारा देता है। बन्धुको जितने सत्यरूपमें हम जानते हैं, वह हमें उतना ही आनन्द देता है। जो देश हमारे लिए भूगो-

लके अन्तर्गत एक नाम मात्र है, उस देशके लोग उस देशके लिए प्राण दे देते हैं । वे देशको अत्यन्त सत्यरूपमें जान सकते हैं, इसलिए उसके लिए प्राण दे सकते हैं । एक मूर्खको जो विद्या भय मालूम होती है, एक विद्वान् उसमें अपनी सारी जिन्दगी बिता देता है । बात यह है कि जहाँ हमें सत्यकी उपलब्धि होती है, वहीं हम आनन्दको देख पाते हैं। जहाँ हमें सत्यकी सम्पूर्णतया प्राप्ति नहीं होती, वहीं आनन्दका अभाव रहता है । जिस सत्यमें हमें आनन्द नहीं मिलता, उसे हम जानते तो हैं—लेकिन उसे हमने प्राप्त नहीं किया है। जो सत्य हमारे लिए पूर्णरूपसे सत्य होता है, उसीसे हमें प्रेम होता है और उसीमें हमें आनन्दकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार समझनेसे सत्यकी अनुभूति और सौन्दर्यकी अनुभूति एक हो जाती है।

मनुष्यका समस्त साहित्य, सङ्गीत और ललित कलाएँ ज्ञात और अज्ञात रूपसे इसी ओर जा रही हैं। मनुष्य अपने काव्योंमें, चित्रोंमें और शिल्पमें सत्यको उज्ज्वल करके उपस्थित कर रहा है। पहले जो वस्तु आँखोंको आकर्षित न करती थी और इसीलिए जिसका अस्तित्व हमारे लिए असत्यप्राय था, कवि उसे हमारी दृष्टिके सामने लाकर हमारे सत्यके राज्यकी, आनन्दके राज्यकी, सीमाको विस्तृत कर देते हैं। समस्त तुच्छ और अनादृत वस्तुओंको मनुष्यका साहित्य प्रतिदिन सत्यके गौरवमें आविष्कृत करके कला-की सुन्दरतासे चिह्नित करता जाता है । जो केवल परिचित था, उसको बन्धु बना रहा है। जो केवल दृष्टिगोचर होता था, उसकी ओर मनको खींच रहा है।

आधुनिक कवि कहते हैं " Truth is beauty, beauty truth —हमारी शुभ्रवसना कमलालया देवी सरस्वती एक ही साथ मूर्त्तिमती "Truth"(सत्य) और "Beauty" (सौन्दर्य) हैं। उपनिषद् भी कहती है—" आनन्दरूपममृतं यद्विभाति " अर्थात् जो कुछ प्रकाशित हो रहा है, वह उसीका आनन्द रूप है, उसीका अमृतरूप है । हमारे पैरोंकी धूलिसे लेकर आकाशके नक्षत्रों पर्यन्त सब कुछ ही Truth और सब कुछ ही Beauty है, सब कुछ ही आनन्दरूपममृतम् है।

सत्यके इसी आनन्दरूप और अमृतरूपको देखकर उसी आनन्दको व्यक्त करना ही काव्यसाहित्यका लक्ष्य है। जब हम सत्यको एकमात्र आँखोंसे देखते हैं, बुद्धिद्वारा पाते हैं, तब नहीं; किन्तु जब उसे हृदयके द्वारा प्राप्त कर लेते हैं, तभी उसे साहित्यमें अभिव्यक्त कर सकते हैं। तो क्या साहित्य कलाकौशलकी सृष्टि नहीं है? वह क्या केवल हृदयका ही आविष्कार है? इसके अन्दर सृष्टिका भी एक भाग है। उसी आविष्कारके विस्मयको, उसी आविष्कारके आनन्दको हृदय अपने ऐश्वर्यके द्वारा भाषामें, ध्वनिमें या रंगोंमें चिह्नित कर रखता है। इसीमें सृष्टिनैपुण्य है, यही साहित्य है, यही सङ्गीत है और यही चित्रकला है।

मरुभूमिके विस्तृत रेतीले मैदानमें खड़े होकर मनुष्यने उसको दो पिरामिडोंके विस्मय-चिह्नोंके द्वारा चिह्नित कर दिया है; निर्जन द्वीपके समुद्र-तटको मनुष्यने पहाड़के गात्रमें कलाकौशलपूर्ण गुफा खोदकर चिह्नित कर दिया है और कहा है कि इसके द्वारा मेरा हृदय तृप्त हुआ है—यही चिह्न ही बम्बईकी हस्तिगुफा है। पूर्वकी ओर खड़े होकर मनुष्यने समुद्रमें सूर्योदयकी महिमाको देखा और कई सौ कोसोंकी दूरीसे पत्थर लाकर वहाँ अपने हाथ जोड़नेके चिह्नको स्थापित कर दिया—यही कनारकका मन्दिर है। सत्यको जहाँ मनुष्य स्थूलरूपमें अर्थात् आनन्द रूपमें, अमृत रूपमें प्राप्त करता है, वहीं अपना एक चिह्न खोद देता है। वह चिह्न ही कहीं मूर्ति, कहीं मन्दिर, कहीं तीर्थ और कहीं राजधानी हो जाता है। साहित्य भी यही चिह्न है। समस्त जगत्के जिस किसी घाटपर मनुष्यका हृदय आकर टकराता है, वहीं वह भाषाके द्वारा एक स्थायी तीर्थको बनानेका प्रयत्न करता है और इस प्रकार विश्वतटके समस्त स्थानोंको वह मानव-यात्रियोंके हृदयके लिए व्यवहारयोग्य और पहुँचनेयोग्य बना देता है। इस प्रकार मनुष्य जल, स्थल और आकाशमें, शरत्, वसन्त और वर्षामें, धर्म, कर्म और इतिहासमें अपरूप चिह्न खोद खोदकर सत्यकी सुन्दर मूर्तिकी ओर मनुष्यके हृदयको निरन्तर बुला रहा है। देश देशमें, समय समयपर यही चिह्न, यही पुकार एकमात्र विस्तृत होती हुई चली जा रही है। संसारमें सर्वत्र ही यदि मनुष्य साहित्यके द्वारा हृदयके इन चिह्नोंको उत्कीर्ण न करता,

तो यह संसार हमारे लिए कितना सङ्कीर्ण होता, उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। आज जो यह आँखों देखा और कानों सुना संसार, बड़े परिमाणमें हमारे हृदयका जगत् बन गया है, इसका प्रधान कारण यह है कि मनुष्यके साहित्यने हृदयके आविष्कार-चिह्नोंसे संसारको विभूषित कर दिया है।

सत्य पदार्थोंकी स्थिति और गतिका सामजस्य है, सत्य कार्य-कारण-परम्परा है, इस बातको बतानेके लिए अन्य शास्त्र हैं; किन्तु साहित्य बतलाता है—सत्य ही आनन्द है, सत्य ही अमृत है। साहित्य उपनिषद्के इस मंत्रकी अहरहः व्याख्या कर रहा है—"रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।" वे रसस्वरूप हैं; इसी रसको पाकर मनुष्य आनन्दित होता है।

विश्व-साहित्य

हमारे अन्तःकरणमें जितनी वृत्तियाँ हैं, वे एकमात्र सबके साथ सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए हैं। इसी मेलके द्वारा हम अपने अस्तित्वको सत्य प्रतिपादित कर लेते हैं और इसी मेलके द्वारा हम सत्यको प्राप्त करते हैं। यदि यह मेल न हो तो हमारी सत्ता और अन्य वस्तुओंके अस्तित्वका कुछ तात्पर्य ही नहीं रहता।

जगत्में सत्यके साथ हमारा मेल तीन प्रकारका होता है। बुद्धिका मेल, प्रयोजनका मेल और आनन्दका मेल। इनमेंसे बुद्धिके मेलको एक तरहकी प्रतियोगिता कहा जा सकता है। मानों वह एक व्याधेके साथ शिकारका मेल है। मानों बुद्धि सत्यको प्रतिपक्षके समान अपने द्वारा बनाए हुए कठघरेमें खड़ा करके, जिरह करके, उसके पेटकी बातको रत्ती रत्ती बाहर निकाल लाती है। इसी कारण सत्यके विषयमें बुद्धिको एक तरहका अहङ्कार हो जाता है। वह जिस परिमाणमें सत्यको जानती है, उसी परिमाणमें अपनी शक्तिका अनुभव करती है। इसके बाद प्रयोजनका मेल है। इसी प्रयोजन अर्थात् मतलबके मेलमें सत्यके साथ हमारी शक्तिकी एक तरहकी सहयोगिता पैदा होती है। इस मतलबके कारण सत्य हमारे निकट और भी अधिक आता है; किन्तु तो भी उसके साथ जो हमारी पृथक्ता है, वह नष्ट नहीं होती। अँग्रेज सौदागरोंने जिस प्रकार एक दिन नवाबके आगे सिर झुकाकर, भेंट देकर, अपना मतलब सिद्ध कर लिया था और कृतकार्य होकर अन्तमें वे स्वयं ही गद्दीपर चढ़ बैठे थे, उसी प्रकार सत्यको कार्यमें लगाकर, उससे अपना मतलब सिद्ध कर अन्तमें हम समझते हैं कि मानों हमने ही संसारकी बादशाहगीरीको पा लिया है! तब हम कहते हैं कि प्रकृति हमारी दासी है, जल, वायु और अग्नि हमारे बिना वेतनके नौकर हैं।

उसके बाद आनन्दका मेल है। इसी सौन्दर्य या आनन्दके मेलमें समस्त पार्थक्य नष्ट हो जाता है। वहाँ अहङ्कार नहीं रहता, वहाँ बिलकुल

क्षुद्रके निकट, दुर्बलके निकट अपने आपको सर्वथा सौंप देनेमें हमें कुछ भी सङ्कोच नहीं होता। वहाँ मथुराका राजा वृन्दावनकी गोपियोंके पास अपनी राजमर्यादाको छुपानेका मार्ग नहीं पाता। जहाँ हमारे आनन्दका मेल होता है, वहाँ हम अपनी बुद्धिकी शक्तिको भी अनुभव नहीं करते, कर्मकी शक्तिको भी अनुभव नहीं करते, वहाँ हम एकमात्र अपनेको ही अनुभव करते हैं—बीचमें कोई अन्तराल या हिसाब नहीं रहता।

थोड़ेमें कहा जाय, तो सत्यके साथ बुद्धिका मेल हमारा स्कूल है, प्रयोजनका मेल हमारा दफ्तर है और आनन्दका मेल हमारा घर है। स्कूलमें भी हम पूरी तौरपर नहीं रहते और दफ्तरमें भी हम पूरी तौरसे आत्म-समर्पण नहीं करते, केवल घरमें ही हम बिना किसी रुकावटके अपने समस्त रूपसे रहते हैं। स्कूल निरलंकृत होते हैं, दफ्तर निराभरण होते हैं, पर घरको अनेक प्रकारके साजसे सजाया जाता है।

यह आनन्दका मेल क्या वस्तु है? दूसरोंको अपना और अपनेको दूसरोंका समझना। जब हम ऐसा समझ लेते हैं, तब कोई प्रश्न नहीं रहता। यह बात हम कभी नहीं पूछते कि हम अपनेको क्यों प्यार करते हैं। हमें अपनी अनुभूतिमें ही आनन्द प्रतीत होता है। उसी अपनी अनुभूतिको जब हम दूसरोंके बीचमें भी पाते हैं, तब इस बातके पूछनेका कोई तात्पर्य ही नहीं रहता कि उनको हम क्यों प्यार करते हैं।

याज्ञवल्क्य ऋषिने गार्गीसे कहा था—

"न वा रे पुत्रस्य कामाय पुत्रः प्रियो भवति
आत्मनस्तु कामाय पुत्रः प्रियो भवति।
न वा रे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवति
आत्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति।"

हम पुत्रको चाहते हैं, इसीलिए हमें पुत्र प्यारा लगता है—यह बात नहीं है; किन्तु हम अपनेको चाहते हैं इसलिए पुत्र हमें प्यारा मालूम होता है। धनको हम चाहते हैं, इसलिए धन हमें प्रिय नहीं मालूम होता; किन्तु क्योंकि हम अपनेको चाहते हैं; इसलिए धन प्रिय मालूम होता है।

इस कथनका यह अभिप्राय है कि जिसके अन्दर हम अपने आपको पूर्ण रूपसे देख सकते हैं, हम उसीको चाहते हैं। पुत्र हमारी कमीको दूर कर देता है, इसका यह तात्पर्य है कि हम पुत्रके भीतर अपनेको और भी प्राप्त करते हैं, मानो उसके अन्दर हम ' अधिकतर हम ' हो जाते हैं। इसी लिए वह हमारा आत्मीय है; हमको वह हमसे अतिरिक्त भी सत्य-रूपमें बना लेता है। अपने अन्दर जिस सत्यको हम अत्यन्त निश्चित रूपसे देखकर प्यार करते हैं, पुत्रके अन्दर भी, उसी सत्यको उसी प्रकार गहराईसे देखनेमें हमारा वह प्रेम बढ़ जाता है। इसी कारण यह जाननेके लिए कि एक मनुष्य कैसा है, हमें इस बातको जानना चाहिए कि वह किस वस्तुको प्यार करता है। इससे यह मालूम पड़ता है कि उसने इस समस्त संसारके अन्दर किस वस्तुमें अपने आपको पाया है, कितनी दूर तक उसने अपने आपको पहुँचा दिया है। जहाँ हमें किसी तरहका प्रेम नहीं होता, वहाँ हमारा आत्मा अपनी परिधिकी सीमाओंके अन्दर ही रहता है।

बच्चा बाहर प्रकाशको देखकर या किसीको चलता फिरता देखकर आनन्दित होकर हँस पड़ता है और शोर करने लग जाता है। वह इस प्रकाश और चञ्चलतामें अपनी ही चेतनाको बड़े रूपसे देखता है, इसी लिए वह प्रसन्न होता है।

किन्तु इन्द्रिय-बोधके बाद जब धीरे धीरे उसकी चेतना हृदय और मनकी नाना तहोंमें व्याप्त हो जाती है; तब केवल इन्हीं चीजोंमें उसे आनन्द नहीं मिलता। बिलकुल नहीं मिलता—यह बात नहीं—थोड़ा मिलता है।

इस प्रकार मनुष्यका जितना जितना अधिक विकास होता जाता है वह उतने ही उतने बड़े रूपमें अपने सत्यको अनुभव करना चाहता है।

यदि मनुष्य अपनी अन्तरात्माको बाहर देखना चाहता है, तो सबसे पूर्व वह उसको मनुष्योंके अन्दर ही देख सकता है। आँखों द्वारा देखनेमें, कानों द्वारा सुननेमें, मनके विचारोंमें, कल्पनाके खेलोंमें, हृदयके विचित्र आकर्षणोंमें वह मनुष्योंके अन्दर स्वभावतः ही अपने आपको पूर्ण रूपसे

देख पाता है। इसी लिए मनुष्यको जानकर, मनुष्यको खींचकर, मनुष्य-का कार्य करके वह अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है और देश और कालमें जो मनुष्य जितने अधिक मनुष्योंके अन्दर अपने आपको मिलाकर देख सका है और प्रकाशित कर सका है, वह उतना ही महान् पुरुष है। वही वास्त-वमें महात्मा है। समस्त मनुष्योंके अन्दर ही हमारी सार्थकता है, इस बातको जो व्यक्ति किसी न किसी सुअवसरपर कुछ न कुछ समझ सका है, उसके भाग्यमें मनुष्यत्वका हिस्सा कम हो गया है। वह आत्माको अपने बीचमें देखनेमें ही, अपने आपको छोटा करना समझता है।

सबके बीचमें अपनेको देखना यह हमारी मानवात्माका एक स्वाभा-विक धर्म है। स्वार्थ और अहङ्कार इसके अन्दर रुकावट डालते हैं। इन्हीं तरह तरहकी रुकावटोंके कारण हमारी आत्माका स्वाभाविक प्रवाह रुक जाता है, मनुष्यत्वके सम्पूर्ण सौन्दर्यको हम बिना किसी रुकावटके नहीं देख पाते।

किन्तु हम समझते हैं कि कई यह प्रश्न करेंगे कि मानवात्माका जो स्वाभाविक धर्म है, संसारमें उसकी इतनी दुर्गति क्यों होती है? जिनको तुम रुकावट कहकर उड़ा देते हो, उन्हीं स्वार्थ और अहङ्कारको ही क्यों न स्वाभाविक धर्म कहा जाय?

वास्तवमें बहुतसे लोग ऐसा कहा भी करते हैं। क्योंकि स्वभावकी अपेक्षा, स्वभावकी रुकावटें ही अधिक दृष्टिगोचर होती हैं। पहले पहल जब कोई मनुष्य दो चक्रोंकी पाँव-गाड़ीपर बैठनेका अभ्यास करता है, तब वह चलनेकी अपेक्षा गिरता अधिक है। यदि उस समय कोई कहे कि वह व्यक्ति बैठनेका अभ्यास नहीं करता, गिरनेका ही अभ्यास करता है, तो इस विषयमें तर्क करना व्यर्थ ही होगा। संसारमें स्वार्थ और अहङ्कारका संघर्ष तो हमें पद-पदपर अनुभव होता है, किन्तु यदि उनके बीचमें भी मनुष्य अपने स्वाभाविक धर्मको बचानेके प्रयत्न अर्थात् सबके साथ मिल-नेके प्रयत्नको न देख पाए, यदि गिरनेको ही स्वाभाविक कहकर तकरार करे, तब तो बिलकुल ही व्यर्थका विवाद करना होगा।

वस्तुतः जो धर्म हमारे लिए स्वाभाविक है, उसको स्वाभाविक रूपमें समझनेके लिए ही, उसको पूरे बलसे काममें लगा देनेके लिए ही रुकावटें

उत्पन्न होती हैं। इन्हींके द्वारा वह जाग्रत् हो उठता है और उसकी जागृति जितनी अधिक होती है, उसका आनन्द भी उतना ही अधिक होता है। सब विषयोंमें ऐसा ही होता है।

बुद्धिके उदाहरणको लीजिए। कार्य-कारणके सम्बन्धका पता लगाना बुद्धिका एक धर्म है। सुगमतया प्रत्यक्ष हो जानेवाली वस्तुओंके अन्दर, जब तक वह इस कार्यको सुगमतया करती है, तब तक वह अपनेको पूर्ण रूपसे नहीं देख पाती। किन्तु समस्त संसारमें कार्य-कारणके सम्बन्ध इतने गहरे छुपे हुए हैं कि उनका पता लगानेमें बुद्धिको निरन्तर प्राणपणसे परिश्रम करना पड़ता है। इन्ही बाधाओंके दूर करनेके परिश्रममें ही बुद्धि विज्ञान और दर्शनके अन्दर अपनेको अच्छी तरह देख पाती है; उसीसे उसके गौरवकी वृद्धि होती है। वस्तुतः अच्छी तरह विचार करके देखनेसे मालूम होता है कि विज्ञान और दर्शन, विषयोंमें बुद्धिकी अपनी प्राप्तिके सिवाय और कुछ भी नहीं है। जहाँ वह अपने नियम देखती है, वहाँ उस पदार्थको और अपनेको एकत्र करके देखती है। इसीको 'समझ सकना' कहते हैं। इसी देखनेमें ही बुद्धिको आनन्द मिलता है। नहीं तो सेव जिस कारण मट्टीमें गिरता है, सूर्य उसी कारण पृथिवीको खींचता है, इस बातको जान लेनेमें मनुष्यके लिए इतना प्रसन्न होनेका कोई कारण नहीं था। आकर्षण करता है तो आकर्षण किया करे, हमको इससे क्या मतलब? हमारा इससे यही मतलब है कि चराचर जगत्के इस व्यापक नियमको हमने अपनी बुद्धिके द्वारा समझ लिया—सर्वत्र ही अपनी बुद्धिको अनुभव कर लिया। हमारी बुद्धिके साथ धूलिसे लेकर सूर्य, चन्द्र, तारा पर्यन्त सभी मिल गए। इस प्रकार जगत्का अनन्त रहस्य मनुष्यकी बुद्धिको बाहर खींच लाकर मनुष्यके निकट उसको बड़े रूपमें प्रकाशित करता है—समस्त चराचरके साथ मिलाकर फिर उसे मनुष्यको लौटा देता है। समस्त वस्तुओंके साथ बुद्धिके इसी मिलनका ही नाम ज्ञान है। इसी मिलनके द्वारा हमारी बोध-शक्तिको आनन्द प्राप्त होता है।

इसी तरह समस्त मनुष्योंके अन्दर सम्पूर्णतया अपने मनुष्यत्वके मिलनको पाना ही मानवात्माका स्वाभाविक धर्म है और उसीमें उसको सच्चा आनन्द प्राप्त होता है। इस धर्मको पूर्ण चेतन रूपमें या जीते

जागते रूपमें पानेके लिए ही अन्दर बाहर केवल विरोध और बाधाओंमेंसे उसको गुज़रना पड़ता है। इसी कारण स्वार्थ इतना बलवान् है, आत्मा-भिमान इतना अटल है और संसारका रास्ता इतना दुर्गम है। इन समस्त बाधाओंमेंसे गुज़रकर जहाँ मनुष्यका धर्म समुज्ज्वल होकर पूर्ण सुन्दर रूपमें बलपूर्वक अपनेको प्रकाशित करता है, वहाँ बड़ा आनन्द होता है। वहाँ हम अपनेको ही बड़े रूपमें देखते हैं।

इसी कारण हम महापुरुषोंके जीवन-चरितोंको पढ़ना चाहते हैं। उनके चरित्रोंमें हम अपनी बाधाओंद्वारा परिवेष्टित प्रकृतिको ही मुक्त और विकसित हुआ देखते हैं। इतिहासमें हम अपने ही स्वभावको नाना लोगोंमें, नाना देशोंमें, नाना कालोंमें, नाना घटनाओंमें, नाना परिमाणोंमें और नाना आवृत्तियोंमें देखकर प्रसन्न होते हैं। तब हम स्पष्टतया समझें या न समझें, तो भी अपने मनमें इस बातको अनुभव करते हैं कि समस्त मनुष्योंके साथ हम एक हैं। उसी ऐक्यको जितनी मात्रामें हम अच्छी तरह अनुभव करते हैं, उतनी ही मात्रामें मङ्गल और आनन्द प्राप्त होता है।

किन्तु जीवनी और इतिहासमें हम सब कुछ आद्यन्त स्पष्टतया नहीं देख सकते। वह भी अनेक बाधाओं और अनेक संशयोंद्वारा आच्छन्न होकर हमें दिखाई पड़ता है। उसके द्वारा भी हमें मनुष्यका जो परिचय मिलता है, वह निस्सन्देह बहुत बड़ा है; किन्तु उसी परिचयको फिर अपने मनके अनुकूल बनाकर, उसको अपनी इच्छानुसार सजाकर हमेशाके लिए भाषामें बाँध रखनेके लिए हम प्रयत्नशील होते हैं। यदि हम ऐसा कर सकें, तो वह विशेषरूपसे हमारा हो जाता है। सुन्दर भाषामें, सुरचित निपुणताके द्वारा जब हम उसके अन्दर अपनी प्रीतिको प्रकाशित करते हैं, तो वह मनुष्यके हृदयकी सामग्री बन जाता है। फिर वह इस संसारके आवागमनके प्रवाहमें नहीं बह जाता।

इस तरह, बाहरका यह जो समस्त अपरूप प्रकाश है; वह सूर्योदयकी छटा हो, या किसी महान् चरित्रकी चमक हो, या अपने अन्दरका आवेग हो, जो भी कुछ प्रतिक्षण हमारे हृदयको जाग्रत् कर देता है, हृदय उसे अपनी सृष्टिके साथ मिलाकर, उसे अपना समझकर पकड़ रखता है। इस

प्रकार इन समस्त उपलक्ष्योंके द्वारा वह अपनेको ही विशेषरूपसे प्रकाशित करता है।

संसारमें मनुष्यको, अपने आपको प्रकाशित करनेकी दो मोटी धाराएँ हैं। पहली धारा मनुष्यका कर्म है और दूसरी धारा मनुष्यका साहित्य है। ये दोनों धाराएँ बिलकुल पास पास चलती हैं। मनुष्यने कर्म-रचना तथा भाव-रचनामें अपने आपको डाल दिया है। ये दोनों आपसमें एक दूसरेको पूर्ण करती हुई चलती हैं। इन दोनोंके बीचमेंसे होकर ही इतिहास और साहित्यमें मनुष्यको पूर्णतया जानना पड़ेगा।

कर्मक्षेत्रमें मनुष्य, अपने शरीर, मन और हृदयकी समस्त शक्ति और अनुभवसे गृह, समाज, राज्य और धर्म-सम्प्रदायोंकी रचना करता है। इसी रचनामें मनुष्यने जो कुछ प्राप्त किया है, जो कुछ जान लिया है, जो कुछ उसकी इच्छा है, सब कुछ प्रकाशित होता है। इस प्रकार मनुष्यकी प्रकृति संसारके साथ मिलकर नाना रूप धारण करके सबके बीचमें अपनेको प्रतिष्ठित करती है। इस प्रकार जो वस्तुएँ भावोंके अन्दर अस्पष्ट थीं, वे संसारके अन्दर आकृतियोंमें उत्पन्न होती हैं; जो वस्तुएँ एकके बीचमें क्षीणरूप थीं, वे अनेकोंके बीचमें नाना अङ्गोंके द्वारा बड़ी एकताको प्राप्त कर लेती हैं। इस तरह धीरे धीरे ऐसा हो रहा है कि प्रत्येक स्वतंत्र मनुष्य इन्हीं बहुत दिनोंके और बहुतसे मनुष्योंद्वारा बनाए हुए घर, समाज, राज्य और धार्मिक सम्प्रदायोंके विना अपनेको स्पष्टतया पूर्णरीतिसे अभिव्यक्त ही नहीं कर सकता। ये सब वस्तुएँ मनुष्यके लिए मनुष्य-स्वरूप ही हो गई हैं। यदि ऐसा न हो, तो हम इन्हें सभ्यता अर्थात् पूर्ण मनुष्यत्वके नामसे नहीं कह सकते। राज्य या समाज जिस किसी कार्यमें भी हम वैयक्तिक रीतिसे पूर्ण स्वतंत्र हैं, जहाँ कहीं एकके साथ सबका मेल नहीं होता—वहाँ ही हम असभ्य हैं। इसी कारण सभ्य समाजमें राज्यको हानि पहुँचनेपर, उस राज्यके प्रत्येक व्यक्तिके बृहत् शरीरको आघात लगता है। यदि समाज किन्हीं अंशोंमें सङ्कीर्ण हो, तो उस समाजके प्रत्येक व्यक्तिका आत्मविकास रुक जाता है। मनुष्यके संसार-क्षेत्रकी उपर्युक्त समस्त रचनाएँ जिस परिमाणमें विशाल होती हैं, उसी परिमाणमें

वे अपने मनुष्यत्वको विना किसी रुकावटके अभिव्यक्त कर सकती हैं और जिस परिमाणमें वे सङ्कीर्ण होती हैं, अभिव्यक्तिके न होनेसे मनुष्य उसी परिमाणमें दीन हो जाता है। क्योंकि यह संसार कार्योंके उपलक्ष्यके द्वारा मनुष्यको प्रकाशित करनेके लिए है और एकमात्र प्रकाश ही आनन्द है।

कर्म-क्षेत्रमें भी मनुष्य अपने स्वरूपको दिखलाता है, किन्तु इसमें अपनेको दिखलाना उसका वास्तविक उद्देश्य नहीं होता; वह तो उसका एक गौण फल होता है। एक गृहिणी घरके कार्योंके अन्दर अपने स्वरूपको दिखलाती तो है, किन्तु दिखलाना ही उसका यथार्थ उद्देश्य नहीं होता। गृहकर्मोंके द्वारा वह अपने बहुतसे प्रयोजनोंको सिद्ध करती है और वे सब अभिप्राय उसके कार्योंके द्वारा स्वयमेव उसकी प्रकृतिको हमें दृष्टिगोचर करा देते हैं।

किन्तु समय आता है जब कि मनुष्य मुख्यतः अपनेको दिखाना या प्रकाशित करना चाहता है। विचार करके देखो कि घरमें जिस दिन विवाह होता है, उस दिन एक ओर विवाहके लिए तैयारियाँ होती रहती हैं, और दूसरी ओर केवल विवाहके कार्य-मात्रको संपादित करनेके लिए नहीं किन्तु अपने हृदयको खोलकर बतानेकी भी आवश्यकता होती है; उस दिन घरके आदमी अपने घरके मङ्गलको और आनन्दको सबके निकट घोषणा किए वगैर नहीं रह सकते। और घोषणा किस प्रकार की जाती है? बाँसुरी बजती है, दीपक जलते हैं, फूल और पत्रोंके द्वारा घरको सजाया जाता है। सुन्दर ध्वनि, सुन्दर गन्ध, सुन्दर दृश्य और प्रसन्नताके द्वारा, हृदय अपनेको सौ धारोंके फुआरेके समान छोड़ देता है। इस प्रकार नानाप्रकारके इशारोंमें अपने आनन्दको दूसरोंके हृदयोंमें जगाकर वह इस आनन्दको सबके अन्दर सत्य करना चाहता है।

माता अपने गोदके बच्चेकी सेवा किए विना रह ही नहीं सकती। इतना ही नहीं, केवल सेवाके द्वारा नहीं, माताका स्नेह अपने आप विना किसी कारणके अपनेको व्यक्त करना चाहता है। तब वह कितने खेलों, कितने प्यारों तथा कितनी भाषाओंमें फूट उठता है। तब वह बच्चेको विविध रङ्गोंके साजसे सजाकर, तरह तरहके गहने पहनाकर, बिलकुल निष्प्रयोजन

अपनी अधिकताको अधिकताके द्वारा, माधुर्यको सौन्दर्यके द्वारा प्रकट किए बिना नहीं रह सकती।

इससे यह पता लगता है कि हमारे हृदयका धर्म यही है। वह अपने आवेगको बाह्य जगत्के साथ मिला देना चाहता है। वह स्वतः पूर्ण नहीं होता। वह आन्तरिक सत्यको किसी प्रकार बाहर सत्यरूपमें प्रतिष्ठित करके ही जीवित रहता है। जिस घरमें वह रहता है, वह घर उसके लिए ईंट और काठके रूपमें ही नहीं होता—उस घरको वह अपना निवासस्थान बनाकर उसपर अपने हृदयके रङ्गको मल देता है। जिस देशमें उसका हृदय रहता है, वह देश उसके निकट मट्टी, जल और आकाश मात्र ही नहीं होता; वह देश तब उसके निकट ईश्वरके जीव-धात्रीरूपको माताके रूपमें प्रकाशित करता है—तभी उसे आनन्द मिलता है; अन्यथा हृदय अपने आपको बाहर नहीं देख सकता। यदि ऐसा न हो तो हृदय उदासीन हो जाता है और हृदयके लिए उदासीनता ही मृत्यु है।

इस प्रकार हृदय सत्यके साथ शुद्ध रसके सम्बन्धको स्थापित करता है। जहाँ रसका सम्बन्ध होता है, वहाँ लेन-देन होता है। हमारी हृदय-लक्ष्मी, जिस परिवार-गृहसे जैसी सौगात पाती है, उस घरमें यदि वह उसके अनुरूप सौगात नहीं भेज सकती, तो मानो उसके गृहिणीपनपर चोट लगती है। इस तरहकी सौगातकी थालीमें अपनी कुटुम्बिताको प्रकाशित करनेके लिए उसे नाना माल-मसालोंद्वारा—भाषा, स्वर, तूलिका और पत्थरोंके द्वारा—सृष्टि करनी पड़ती है। इसके साथ साथ यदि कोई उसका अपना प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, तब तो ठीक ही है; परन्तु बहुधा वह अपने प्रयोजनका नाश करके भी एक मात्र अपनेको प्रकाशित करनेके लिए व्याकुल होती है। वह दिवालिया होकर भी अपनेको प्रसिद्ध करना चाहती है। मनुष्यकी प्रकृतिमें यही जो प्रकाशित करनेका विभाग है—यही उसकी फिजूल-खर्चीका विभाग है—इसीमें बुद्धि-खजानचीको बारंबार अपना सिर पीटना पड़ता है।

हृदय कहता है कि मैं अन्दर जितना सत्य हूँ, बाहर भी उतना ही सत्य किस प्रकार हो सकूँगा? ऐसी सामग्री और इस प्रकारका सुअवसर

किस प्रकार प्राप्त हो सकेगा? वह केवल रोया करता है कि मैं अपनेको दिखानेमें, अपनेको बाहर प्रतिष्ठित करनेमें समर्थ नहीं हो पाता। एक धनवान् पुरुष जब अपने हृदयमें यह अनुभव करता है कि वह धनी है, तब अपनेको धनवान् दिखानेके लिए, कुबेरके धनको भी फूँक सकता है। प्रेमी मनुष्य जब अपने हृदयके अन्दर सच्चे प्रेमको अनुभव करता है, तब उस प्रेमको दिखानेके लिए अर्थात् बाहर सत्यरूपमें लानेके लिए वह धन, प्राण और मान आदि सब वस्तुओंको एक पलमें छोड़ सकता है। इस प्रकार बाहिरकी वस्तुको अन्दरकी और अन्दरकी वस्तुको बाहरकी सामग्री बना देनेकी तीव्र व्याकुलता किसी प्रकार भी कम नहीं होती। कवि बलरामदासका एक पद है—

" तोमार हियार भितर हैते के कैल बाहिर। "

(तुम्हारे हृदयके अन्दरसे किसने बाहर निकाल दिया।)

अर्थात् प्रिय वस्तु मानो हृदयकी आन्तरिक वस्तु है, उसको मानो किसीने बाहर निकाल लिया है—इसी कारण उसको फिर अन्दर लौटा लेनेके लिए इतनी प्रबल इच्छा होती है। और इसके विपरीत भी देखा जाता है। हृदय अपनी आन्तरिक इच्छा और आवेगको जब बाहर किसी प्रकार भी प्रत्यक्ष नहीं कर पाता, तब अन्ततः वह नाना उपकरणोंके द्वारा स्वयमेव उसके प्रतिरूपको गढ़नेके लिए प्राणपणसे चेष्टा करता है। इस प्रकार संसारको अपना और अपनेको संसारका बनानेके लिए हृदयकी व्याकुलता सदा कार्य करती है। अपनेको बाहर प्रकाशित करना भी इसी कार्यका एक अङ्ग है। इसी कारण हृदय, इस प्रकाशित करनेमें मनुष्यको सर्वस्वके खो देनेके लिए भी तैयार कर लेता है।

जङ्गली सेना जब लड़ाई करना चाहती है, तब वह एकमात्र शत्रु-पक्षको हरा देनेके लिए ही व्यस्त नहीं होती। तब वह अपने शरीरमें रङ्ग मलकर, चीत्कार करके, बाजा बजाकर ताण्डव नृत्य भी करती है—यह है आन्तरिक हिंसाको बाहर मूर्तिमान् करके खड़ा करना। ऐसा न करनेसे मानों हिंसा पूर्ण नहीं होती। हिंसा, अपने अभिप्रायकी सिद्धिके लिए युद्ध करती है और अपने स्वरूपको दिखलानेकी तृप्तिके लिए ये तमाम फिजूल काम किया करती है।

इस समयके पाश्चात्य-युद्धोंमें भी जीतनेकी इच्छाको दिखलानेके लिए बाजा आदि सामान बिलकुल ही नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। तो भी इन समस्त आधुनिक लड़ाइयोंमें बुद्धिकी चालोंकी ही प्रधानता हो गई है, क्रमशः मानव-हृदयका धर्म इससे परे हटता जाता है। इजिप्ट या मिसरमें जब दरवेशोंके दलने अँग्रेज़ी सेनापर आक्रमण किया था—तब वे केवल लड़ाईमें जीतनेके लिए ही नहीं मर गये थे। अपने अन्दरके उद्दीप्त तेजको दिखानेके लिए ही वे अन्तिम व्यक्ति पर्यन्त मर मिटे थे। लड़ाईमें जो केवल विजयको ही चाहते हैं, वे ऐसा अनावश्यक कार्य नहीं करते। आत्महत्याके द्वारा भी मनुष्य अपने हृदयको प्रकाशित करना चाहता है! भला इतने बड़े फिजूल-खर्चको कौन ध्यानमें ला सकता है?

हम लोग जो पूजा करते हैं, उसे बुद्धिमान् एक तरह और भक्तिमान् लोग दूसरी तरह किया करते हैं। बुद्धिमान सोचता है कि पूजाके द्वारा भगवान्से सद्गति अदा कर लूँगा और भक्तिमान् सोचता है कि पूजाके बिना भक्तिकी पूर्णता नहीं होती—इसका चाहे और कोई फल न हो, हृदयकी भक्तिको बाहर प्रकाशित करनेसे उसका विस्तार हो जाता है। इस प्रकार भक्ति पूजाके अन्दर अपनेको व्यक्त करके अपनेको सार्थक करती है। बुद्धिमान्की पूजा सूदपर रुपया लगाना है और भक्तिमान्की पूजा एक मात्र फिजूल खर्च है। हृदय अपनेको प्रकाशित करनेमें नुकसानकी कतई परवाह नहीं करता।

विश्व-जगतके अन्दर भी जहाँ हम अपने हृदयके इस धर्मको देखते हैं, वहाँही हमारा हृदय स्वयमेव अपनेको पकड़ा देता है, किसी बातको जाननेकी इच्छा नहीं करता। जगतमें यह बे-हिसाब फिजूल-खर्चीका पहलू ही सौन्दर्य है। जब हम देखते हैं कि फूल केवल बीज बननेके लिए जल्दी नहीं करता, अपने समस्त प्रयोजनको अतिक्रम करके सुन्दर रूपमें फूटता है; मेघ एकमात्र जल बरसाकर अपने कार्यको पूर्ण करके शीघ्र ही छुट्टी नहीं ले लेता, निष्प्रयोजन ठहरकर रङ्गोंकी छटासे आँखोंको आकर्षित कर लेता है; वृक्ष केवल काठ बनकर वृष्टि और प्रकाशके लिए शीर्ण भिखारीकी तरह हाथ नहीं फैलाए रहते, हरी शोभाके भरे हुए ऐश्वर्यमें दिग्वधुओंको डालियाँ भरकर देते हैं; जब हम देखते हैं कि समुद्र मेघोंके द्वारा जलको पृथिवीपर एकमात्र बर-

खानेके लिए ही एक बड़ा दफ्तर खोले नहीं बैठा है किन्तु वह अपनी तरफ नीलिमाके अथाह भयद्वारा भयङ्कर है; पहाड़ केवल नदियोंको जल जुटाकर ही शान्त नहीं होता, वह योग-निमग्न रुद्रके समान भयङ्करको आकाशभरमें निस्तब्ध करके रखता है, तब हम संसारके अन्दर हृदयके धर्मका परिचय पाते हैं। तब चिर-प्रवीण बुद्धि सिर हिलाकर पूछती है कि संसारभरमें यह इतनी अनावश्यक चेष्टाओंका फिजूल खर्च किस लिए है? चिर-नवीन हृदय कहता है कि मुझको मुग्ध करनेके लिए ही—इसके सिवाय अन्य कोई कारण तो समझ नहीं पड़ता। हृदय ही जानता है कि संसारके अन्दर एक हृदय सदा अपनेको प्रकाशित करता है। नहीं तो सृष्टिके अन्दर, इतना रूप, इतना गान, हाव-भाव, इतने आभास-इङ्गित और इतनी सजावट किसलिए है? हृदय व्यवसायीकी कृपणतासे मुग्ध नहीं होता, इसी कारण उसको आकर्षित करनेके लिए, जल, स्थल और आकाशमें पद-पदपर प्रयोजनको छुपाकर इतना अनावश्यक आयोजन किया गया है। संसार यदि रसमय न होता, तो हम बिलकुल क्षुद्र बनकर अपमानित होकर रहते। हमारा हृदय कहता कि इस संसारके यज्ञमें मुझहीको निमंत्रण नहीं मिला। किन्तु समस्त संसार अपने असंख्य कार्योंके अन्दर भी रसको भरकर यही बात कह रहा है कि मैं तुमको चाहता हूँ; मैं तुमको नाना प्रकारसे चाहता हूँ—हँसीमें, रोनेमें, भयमें, भरोसेमें, क्षोभमें और शान्तिमें चाहता हूँ।

इसी तरह संसारके अन्दर भी हम दो प्रकारके कार्य देखते हैं—एक कार्यका प्रकाश और दूसरा भावका प्रकाश। किन्तु कार्यके द्वारा जो कुछ प्रकाशित होता है, उसको समग्ररूपसे देखना और समझना हमारा कार्य नहीं है। इसके अन्दर जो अमेय ज्ञानशक्ति है, हमारे ज्ञानके द्वारा उसका किनारा नहीं मिलता।

किन्तु भावका प्रकाश एकदम प्रत्यक्ष-प्रकाश है। जो कुछ सुन्दर है, वह सुन्दर है और जो कुछ विराट् है वह महान् है। जो रुद्र है, वह भयङ्कर है। संसारका रस एकदम हमारे हृदयके अन्दर प्रवेश करता है और हमारे हृदयके रसको बाहर खींच लाता है। इस मिलनके अन्दर कितनी ही

लुक-छिप क्यों न हो, कितनी ही रुकावटें क्यों न आएँ, तो भी प्रकाश और मिलनके अतिरिक्त इसके अन्दर और कुछ भी ढूँढ़नेसे नहीं मिलता।

तभी हम देखते हैं कि जगत्-संसार और मानव-संसारके अन्दर एक तरहका सादृश्य है। ईश्वरका सत्य-रूप ज्ञान-रूप संसारके नाना कार्योंमें प्रकाशित होता है और उसका आनन्द-रूप संसारके नाना रसोंमें प्रत्यक्ष होता है। कार्योंके मध्य उसके ज्ञानरूपको समझना कठिन है; किन्तु रसके मध्य उसके आनन्दरूपके अनुभव करनेमें कठिनता नहीं होती। क्योंकि रसके अन्दर तो वह स्वयं अपनेको प्रकाशित ही करता है।

मनुष्यके संसारमें भी हमारी ज्ञान-शक्ति कार्य कर रही है और हमारी आनन्द-शक्ति रसकी सृष्टि कर रही है। कार्योंके द्वारा हमारी आत्म-रक्षाकी शक्ति तथा रसके द्वारा हमारी अपनेको प्रकाशित करनेकी शक्ति प्रकट होती है। हमारे लिए आत्म-रक्षाकी आवश्यकता है और अपनेको प्रकाशित करना हमारी आवश्यकतासे परे है।

हम यह युद्धके उदाहरणमें दिखा चुके हैं कि आवश्यकता प्रकाशित करनेके और प्रकाशित करना आवश्यकताके रास्तेमें रुकावटें डालता है। स्वार्थ फिजूल-खर्ची नहीं चाहता और फिजूल-खर्चीमें ही आनन्द अपना परिचय देता है। इसी कारण स्वार्थके क्षेत्र—आफिसमें (कार्यालयमें) हमारा आत्म-प्रकाश जितना ही कम होता है, उतना ही वह कार्य श्रद्धेय हो जाता है; और आनन्दके उत्सवमें स्वार्थको हम जितना भुला देते हैं, उत्सव उतना ही सुन्दर होता है।

अतएव साहित्यके अन्दर मनुष्यको आत्म-प्रकाश करनेमें कोई रुकावट नहीं होती। स्वार्थ उससे दूर है। वहाँ दुःख, हृदयमें आँखोंकी अश्रुधाराको उत्पन्न करता है, किन्तु हमारे सांसारिक कार्योंमें हस्तक्षेप नहीं करता; भय हमारे हृदयको हिलाया करता है, किन्तु हमारे शरीरपर आघात नहीं करता; सुख हमारे हृदयको पुलकित कर देता है, किन्तु हमारे लोभको उठाकर जाग्रत् नहीं कर देता। इस प्रकार मनुष्य अपनी आवश्यकताके संसारके ठीक पासमें ही, आवश्यकतासे अतिरिक्त साहित्य-संसारकी रचना कर रहा है। उसके द्वारा वह अपनेको कोई नुकसान न पहुँचाकर, नाना रसोंके द्वारा

अपनी प्रकृतिको नाना रूपोंमें अनुभव करनेके आनन्दको प्राप्त करता है, अपने प्रकाशको बिना किसी रुकावटके देखता है। वहाँ कोई उत्तर-दायित्व नहीं होता, वहाँ तो प्रसन्नता होती है। वहाँ सिपाही पहरेदार नहीं होते—स्वयं महाराजा होते हैं।

इसलिए साहित्यमें हम किसका परिचय प्राप्त करते हैं? मनुष्यका जो प्राचुर्य है, जो ऐश्वर्य है, वह उसकी समस्त आवश्यकताओंको लाँघ गया है—जो उसके संसारके अन्दर ही समाप्त नहीं हो सकता।

इसी कारण हमने अपने एक निबन्धमें लिखा है कि भोजनका रस यद्यपि संसारमें छोटेसे बच्चेसे लेकर बूढ़े पर्यन्त सभीसे सुपरिचित है, तो भी साहित्यमें प्रहसनको छोड़कर अन्यत्र कहीं उसको वैसा स्थान नहीं मिला—क्योंकि वह रस भोजनकी तृप्तिको अतिक्रम नहीं करता। पेट भरकर हम एक बादलके समान गम्भीर 'आः' कहकर ही उसे (भोजनके रसको) शीघ्र विदा कर देते हैं। साहित्यके राजद्वारमें दक्षिणा देनेके लिए हम उसे निमंत्रित ही नहीं करते। किन्तु जो हमारे भण्डार-गृहके वर्तनोंमें किसी भी प्रकार नहीं समाता, वही समस्त रसोंका वेगवान् प्रवाह ही साहित्यके अन्दर लहरोंको उठाकर कलकल करता हुआ बह जाता है। मनुष्य उसे अपनी आवश्यकताओंमें ही समाप्त नहीं कर सकता, इसीलिए भरे हृदयके वेगसे साहित्यके अन्दर प्रकाशित करके चैन पाता है।

इस प्रकारकी अधिकतामें ही मनुष्य वास्तवमें प्रकाशित होता है। मनुष्य भोजनप्रिय है यह अवश्य सत्य है, किन्तु मनुष्य वीर है यह सत्यतम है। मनुष्यके सत्यके इस जोरको कौन रोक सकता है? वह भागीरथीके समान पत्थरोंको पीसकर, ऐरावतको तैराकर, ग्राम, नगर और शस्य-क्षेत्रोंकी तृष्णाको मिटाकर एकदम समुद्रमें जा पड़ता है। मनुष्यकी वीरता मनुष्यके संसारके समस्त कार्योंको पूर्ण करके संसारको अतिक्रम कर देती है।

इस प्रकार स्वभावतः ही मनुष्यका जो कुछ महान् एवं नित्य है, जिसको वह अपने कार्योंमें समाप्त नहीं कर सकता, वह मनुष्यके साहित्यमें बद्ध होकर स्वयमेव मनुष्यके विराट्रूपको बना डालता है।

और भी एक कारण है। संसारमें हम जिसको देखते हैं, उसको बिखरे रूपमें देखते हैं—उसको कुछ आगे, कुछ पीछे, कुछ इधरसे और कुछ उधरसे देखते हैं, और दूसके साथ मिलाकर देखते हैं; किन्तु साहित्यमें इस प्रकार देखना नहीं होता। साहित्यमें जिस वस्तुको प्रकाशित किया जाता है, उसपर समस्त प्रकाश डाला जाता है। उस समय और किसीको भी देखने नहीं दिया जाता। उसके लिए नाना प्रकारके कौशलोंसे एक इस प्रकारका स्थान बना देना पड़ता है, जहाँसे एकमात्र वही दीप्यमान होता रहता है।

ऐसी अवस्थामें, इस तरहकी पूर्ण स्वतंत्रतामें, तथा इस प्रकारके प्रखर प्रकाशमें जो वस्तु अच्छी नहीं मालूम पड़ती, उसे हम स्वभावतः ही ऐसे स्थानपर खड़ा नहीं करते। क्योंकि ऐसे स्थानपर यदि अयोग्यको खड़ा किया जाय, तो इसका तात्पर्य उसे लज्जित करना होता है। संसारके नाना आवरणोंके बीच पेटुक (उदरपरायण) व्यक्तिपर वैसे दृष्टि नहीं पड़ती; किन्तु जब हम उसे साहित्य-मञ्चके ऊपर एकाग्र प्रकाशमें रखकर दिखाते हैं, तो वह हास्यकर बन जाता है। इसलिए मनुष्यका जो प्रकाशित स्वरूप तुच्छ नहीं है, मानव-हृदय जिसको करुणामें या वीरतामें, रुद्रतामें या शान्तिमें, अपना उपयुक्त प्रतिनिधि मान लेनेमें कुण्ठित नहीं होता, जो कलाकी चतुराईकी सीमाके अन्दर खड़ा होकर हमेशाके अनिमेष दृष्टिपातको सिर उठाकर सहन कर सकता है, मनुष्य स्वभावतः ही उसीको साहित्यमें स्थान देता है, नहीं तो उसकी असङ्गति हमारे लिए पीड़ाजनक हो जाती है। राजाके सिवाय यदि हम और किसीको सिंहासनपर बैठा हुआ देखें, तो हमारे मनमें विद्रोह खड़ा हो जाता है।

किन्तु सब मनुष्योंकी विचार-बुद्धि बड़ी नहीं है, सब समाज भी बड़े नहीं हैं और कोई ऐसा समय आता है जब कि क्षणिक और क्षुद्र मोह मनुष्यको छोटा कर देता है। उस समय उस दुःसमयके विकृत दर्पणमें छोटी वस्तु बड़ी होकर दिखाई देती है और उस समयके साहित्यमें मनुष्य अपनी छोटी वस्तुको भी बड़ी बना देता है, अपने कलङ्कके ऊपर ही स्पर्धाके साथ प्रकाश डालता है। तब कलाके बदले कौशल, गौरवके स्थानपर गर्व और टैनिसनके आसनपर किप्लिङ्ग (Kipling) का अविर्भाव होता है।

किन्तु महाकाल बैठा हुआ है। वह तो सब कुछ छान डालता है। उसकी छलनीसे जो कुछ क्षुद्र और जीर्ण होता है, वह निकलकर मट्टीमें पड़कर मट्टी बन जाता है। नाना काल और नाना लोगोंके अन्दर वे ही चीजें टिकती हैं, जिनके अन्दर सब मनुष्य अपनेको देख सकते हैं। इस प्रकार छानकर चुननेसे जो वस्तुएँ रह जाती हैं, वे सब देश और सब समयके मनुष्योंका धन होती हैं।

इस प्रकार तोड़-फोड़कर और गढ़कर साहित्यके अन्दर मनुष्यकी प्रकृतिका, मनुष्यके प्रकाशका एक नित्यकालीन आदर्श स्वयमेव इकट्ठा होता जाता है। वही आदर्श ही नूतन युगके साहित्यकी भी पतवारको पकड़े रहता है। इस आदर्शके अनुसार ही यदि हम साहित्यका विचार करें, तो समग्र मनुष्योंकी विचार-बुद्धिका सहारा लेना होता है।

अब हमारी असली बातके कहनेका समय आया है। वह बात यह है कि यदि हम साहित्यको देश, काल और पात्रके अन्दर छोटा करके देखें, तो हम साहित्यको यथार्थ रीतिसे नहीं देख सकते। हम यदि इस बातको समझ लें कि साहित्यमें विश्व-मानव ही अपनेको प्रकाशित कर रहा है, तो हम साहित्यके अन्दर देखने योग्य वस्तुको देख सकेंगे। जिस स्थानपर साहित्यकी रचनामें, लेखक एकमात्र उपलक्ष्य नहीं बन गया है, वहीं उसकी कृति नष्ट हो गई है और जहाँ लेखकने अपनी भावनाओंमें समग्र मनुष्योंके भावोंको अनुभव किया है, अपनी रचनामें समग्र मनुष्योंकी वेदनाको प्रकाशित किया है, वहीं उसकी रचनाने साहित्यमें स्थान प्राप्त किया है। हमें साहित्यको इस प्रकार समझना पड़ेगा कि विश्व-मानव राज-मिस्त्री बनकर इस मन्दिरका निर्माण कर रहा है। लेखक नाना देशों और नाना समयोंसे आकर उसके मजदूर बनकर कार्य कर रहे हैं। समस्त इमारतका प्लैन क्या है, यह किसीको मालूम नहीं है; लेकिन बनानेमें जहाँ भूल हो जाती है, वहाँ वह बारंबार टूट जाता है। प्रत्येक मजदूरको अपनी स्वाभाविक पूर्ण क्षमताके द्वारा अपनी रचनाको सबके साथ सुसम्बद्ध बनाकर, उसी अदृश्य प्लैनके साथ मिलाना पड़ता है; इसमें लेखककी क्षमता मालूम पड़ती है और इसी कारण उसको साधारण मजदूरोंके समान

सामान्य वेतन नहीं दिया जाता, उसका एक उस्तादके समान आदर किया जाता है।

हमपर जिस विषयकी आलोचना करनेका भार डाला गया है, अँग्रेजीमें आप उसे Comparative Literature नामसे कहते हैं। हिन्दीमें हम उसे विश्व-साहित्य कहेंगे।

मनुष्य अपने कर्मोंके द्वारा किस बातको कहता है, उसका उद्देश्य क्या है, उसका प्रयत्न किस प्रकारका है, यदि हम इन बातोंको जानना चाहें, तो समग्र इतिहासके अन्दर मनुष्यके लक्ष्यका अनुसरण करना पड़ेगा—अकबरका शासन या गुजरातका इतिहास या एलिजाबेथका चरित्र इसप्रकार पृथक् पृथक् करके देखनेसे केवल समाचार जाननेके कौतूहलकी निवृत्ति ही होगी। जो जानता है कि अकबर या एलिजावेथ एकमात्र उपलक्ष्य हैं, जो जानता है कि मनुष्य समस्त इतिहासके द्वारा अपने गम्भीरतम उद्देश्यको नाना साधनाओं, भूलों और संशोधनोंके द्वारा प्राप्त करनेकी ही चेष्टा कर रहा है, जो जानता है कि मनुष्य सब कार्योंमें सबके साथ बृहत् भावसे मिल कर मुक्ति प्राप्त करनेके लिए प्रयत्न कर रहा है, जो जानता है कि स्वतंत्र अपनेको राजतंत्रमें और राजतंत्र अपनेको प्रजातंत्रमें सार्थक करनेके लिए परिश्रम कर रहा है, मनुष्य विश्व-मानवके अन्दर अपनेको व्यक्त करनेके लिए, व्यष्टि समष्टिके अन्दर अपनेको प्राप्त करनेके लिए, तोड़ जोड़ कर रहा है, वह व्यक्ति मनुष्यके इतिहासके अन्दर किसी व्यक्ति विशेषका नहीं किन्तु नित्य मनुष्यके नित्य सचेष्ट उद्देश्यको देखनेका ही प्रयत्न करता है। वह केवल तीर्थके यात्रियोंको ही देखकर लौट नहीं आता; किन्तु समस्त यात्री जिस देवताको देखनेके लिए नाना दिशाओंसे आते हैं, उसके दर्शन करके ही घरको लौटता है।

उसी प्रकार साहित्यके अन्दर मनुष्य अपने आनन्दको किस प्रकार प्रकाशित करता है, और इस प्रकाशकी विचित्र मूर्तिके अन्दर मनुष्यकी आत्मा अपने किस नित्यरूपको दिखलाना चाहती है, साहित्यमें वही वस्तु वास्तवमें देखने योग्य है। वह अपनेको रोगी, भोगी या योगी किस परिचयके द्वारा परिचित करनेमें प्रसन्न होता है; संसारके अन्दर मनुष्यकी

आत्मीयता कितनी दूर पर्यन्त सच्ची बन गई है, अर्थात् सत्य कितनी दूर तक उसका अपना बन गया है, इसी बातको जाननेके लिए इस साहित्यके संसारमें प्रवेश करना पड़ेगा। इसको कृत्रिम समझ लेना ठीक नहीं है। यह एक संसार है, इसके तत्त्व किसी व्यक्ति विशेषके अधीन नहीं हैं; वस्तु-जगत्के समान इसकी सृष्टि हो रही है और इसी असमाप्त सृष्टिके अन्तरतम स्थानमें, एक समाप्तिका आदर्श अचलरूपसे विद्यमान है।

सूर्यके अन्दरकी वस्तुएँ अपनेको तरल और कठिन रूपमें नाना प्रकार बना रही हैं। हम उनको देख नहीं सकते किन्तु उनके चारों ओर जो प्रकाशमण्डल है, वह सूर्यको संसारके निकट व्यक्त करता है, सबके साथ अपनेको मिला देता है। यदि हम मनुष्यको इसी तरह समग्र रूपसे दृष्टिका विषय बना सकते, तो हम उसे भी सूर्यकी तरह ही देखते। तब हम देखते कि उसकी वस्तुएँ अन्दर ही अन्दर धीरे धीरे नाना स्तरोंके द्वारा बन रही हैं और उसके चारों ओर एक प्रकाशकी ज्योतिर्मण्डली हमेशा अपने आपको चारों ओर फैलाकर प्रसन्न हो रही है। एक बार साहित्यको मनुष्यके चारों ओरके उसी भाषारचित प्रकाशमण्डलीके रूपमें देखो। यहाँ ज्योतिकी आँधी बह रही है, ज्योतिका स्रोत फूट रहा है, ज्योतिर्वाष्पका संघात घटित हो रहा है।

शहरके रास्तेपर चलते चलते जब देखो कि मनुष्यको फुरसत नहीं है; मोदी दुकानपर बैठा हुआ है, लोहार लोहेको पीट रहा है, मज़दूर बोझा उठाए जा रहा है, बनिया अपने खातेके हिसाबको मिला रहा है, तब हम इसके साथ एक दूसरी चीज़को नहीं देख पाते; किन्तु एक बार चुपचाप देखो;—रास्तेके दोनों ओर प्रत्येक घरमें, प्रत्येक दुकानमें, बाज़ारमें, गली गलीमें, कितनी शाखा-प्रशाखाओंमें रसकी धारा कितने मार्गोंसे होकर कितनी मलिनता, संकीर्णता और दरिद्रताके ऊपर प्रसारित हो रही है, रामायण—महाभारत, कथा-कहानी कीर्त्तन-पाञ्चाली विश्व-मानवकी हृदय-सुधाको दिन रात प्रत्येक मनुष्यके समीप बाँट रही हैं, बिलकुल तुच्छ लोगोंके छोटे छोटे कार्योंके पीछे राम लक्ष्मण आकर खड़े रहते हैं, अन्धकारभरे घरके अन्दर पञ्चवटीकी करुणामिश्रित हवा बहती है; मनुष्यके हृदयकी सृष्टि और हृदयका प्रकाश मनुष्यकी कर्मक्षेत्रकी कठिनता और दरिद्रताको अपने सौन्दर्य और मङ्गलके कङ्कण पहने

हुए दोनों हाथोंसे आवृत कर रहा है। समस्त साहित्यको समस्त मनुष्योंके चारों ओर एकबार इस तरह देखना पड़ेगा। देखना होगा कि मनुष्य अपनी वास्तविक सत्ताको भावोंकी सत्ताके द्वारा अपने चारों ओर और भी बहुत दूर तक बढ़ाकर ले गया है। उसकी वर्षाके चारों ओर कितनी गानोंकी वर्षा, काव्योंकी वर्षा, कितने मेघदूत और कितने विद्यापति विस्तीर्ण हो रहे हैं, अपने छोटेसे घरके सुख-दुःखोंको उसने कितने चन्द्र-सूर्यवंशीय राजाओंकी सुखदुःखोंकी कहानीके अन्दर बड़ा बना लिया है; उसकी लड़कीके चारों तरफ पार्वतीकी करुणा सर्वदा सञ्चरण करती रहती है; वह कैलासकी दरिद्रताकी महिमाके अन्दर, अपने दरिद्रताके दुःखको प्रसारित कर देता है; इस प्रकार लगातार मनुष्य अपने चारों ओर जिस विस्तारकी सृष्टि करता है, उसके द्वारा बाहर मानों अपनेको स्वयं फैलाकर, अपने आपको स्वयं बढ़ाता जा रहा है। जो मनुष्य अवस्थाओंके द्वारा संकीर्ण है, वही मनुष्य अपनी भावसृष्टिके द्वारा जो इस अपने विस्तारकी रचना कर रहा है, संसारके चारों ओर एक दूसरे संसारको बना रहा है, यही साहित्य है।

इस विश्व-साहित्यमें मैं आपका पथप्रदर्शक बन सकूँगा, इस बातको आप अपने मनमें भी न लाइएगा। अपनी अपनी शक्तिके अनुसार हम सबको इस रास्तेको काटकर चलना पड़ेगा। मैं तो इतना ही कहना चाहता था कि पृथिवी जिस प्रकार मेरा खेत, तुम्हारा खेत और उसका खेत नहीं है; पृथिवीको इस प्रकारसे जानना अत्यन्त ग्राम्य भावसे जानना है—इसी प्रकार साहित्य मेरी रचना, तुम्हारी रचना और उसकी रचना नहीं है। साधारणतया हम साहित्यको इसी प्रकार ग्राम्य भावसे देखा करते हैं। इसी ग्राम्य संकीर्णतासे अपनेको हटाकर विश्व-साहित्यके अन्दर विश्व-मानवको देखना ही हम अपना उद्देश्य बनाएँगे, हर एक लेखककी रचनाके अन्दर एक समग्रताको देखेंगे और उसी समग्रताके अन्दर समस्त मनुष्योंकी प्रकाश-चेष्टाका सम्बन्ध देखेंगे, इस तरहके सङ्कल्प करनेका समय आ गया है।

सौन्दर्य और साहित्य

सौन्दर्य-बोध और विश्व-साहित्य इन दोनों प्रबन्धोंमें हमारा वक्तव्य-विषय स्पष्ट नहीं हुआ है ऐसा कुछ लोग कहते हैं, इसलिए इस लेखमें हम यथासम्भव पुनरुक्तिको बचाकर असली बातको परिष्कृत करनेका प्रयत्न करेंगे।

जिस प्रकार संसारमें जिस घटनाके विषयमें हम इतना ही जानते हैं, कि वह होती है किन्तु क्यों होती है, उसका पूर्वापर क्या है, संसारकी अन्यान्य घटनाओंके साथ उसका सम्बन्ध कहाँ है, यदि हम इन सब बातोंको न जानें, तो हम उस घटनाको पूर्णतया नहीं समझ सकते, उसी प्रकार जिस सत्यके विषयमें हम यही जानते हैं कि वह है, किन्तु उसके द्वारा हमें किसी प्रकारकी आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती है, उसके विषयमें यही कहना ठीक होगा कि उसका अस्तित्व हमारे हृदयके लिए तो है ही नहीं। हम इतने बड़े संसारमें रहकर भी इसके अधिकांशको अपने ज्ञान-जगत्के अन्दर नहीं ला सके हैं और इसका अधिकांश ही हमारे मनोहर संसारके अन्दर सम्मिलित होकर हमारा अपना नहीं बन गया है।

और संसारके जितने अंशको हम ज्ञानद्वारा जानेंगे और हृदयद्वारा प्राप्त करेंगे, उतनी हमारी ही व्याप्ति और विस्तृति होगी। संसार जिस परिमाणमें हमसे दूर है, उस परिमाणमें हम ही छोटे हैं। इसी कारण हमारी मनोवृत्ति, हृदयवृत्ति, और कर्मशक्ति सब वस्तुओंपर अधिकाधिक अधिकार करनेका प्रयत्न किया करती है। इस तरह ही हमारी सत्ता सत्य और शक्तिमें विस्तृत होती है।

इस विकासके व्यापारमें हमारा सौन्दर्य-बोध किस काम आता है? सत्यके जिस विशेष अंशको हम विशेषतया सुन्दर कहते हैं, क्या वह उसीको हमारे हृदयके निकट उज्ज्वल बना कर शेष अंशको म्लान और तिरस्कृत कर देता है? यदि ऐसा ही हो, तब तो हमारे विकासमें सौन्दर्य एक रुकावट है, समस्त सत्यके अन्दर हृदयको व्याप्त होने देनेमें वह हमारे

लिए एक बड़ी अड़चन है। ऐसी अवस्थामें तो उसने सत्यके बीच विन्ध्याचलके समान उठ कर उसको सुन्दर-असुन्दर आर्यावर्त्त और दाक्षिणात्य इन दो हिस्सोंमें बाँटकर आपसके यातायातके मार्गको दुर्गम बना दिया है। हमने यह कहनेका प्रयत्न किया था कि ऐसी बात नहीं है—जिसप्रकार ज्ञान क्रमशः समस्त सत्यको हमारी बुद्धि-शक्तिकी अधीनताके अन्दर लानेके लिए सदैव प्रयत्नशील है, उसीप्रकार सौन्दर्य-बोध भी समस्त सत्यको क्रमशः हमारे आनन्दके अधिकारमें लाएगा। उसकी एक मात्र सार्थकता इसीमें है। समस्त ही सत्य है, इसलिए समस्त ही हमारे ज्ञानका विषय है और समस्त ही सुन्दर है, अतएव समस्त ही हमारे आनन्दकी सामग्री है।

गुलाबका फूल हमारे लिए जिस कारण सुन्दर है, समग्र संसारके अन्दर उस कारणकी ही मुख्यता है। संसारके अन्दर जितनी अधिक अधिकता है, उतना ही कठिन संयम है;—उसकी केन्द्रको अतिक्रम करनेवाली शक्ति अनन्त विचित्रताओंके द्वारा अपनेको चारों ओर सहस्रधा करती है और उसकी केन्द्रानुगामी शक्ति इसी उद्दाम विचित्रताके उल्लासको बिलकुल पूर्ण सामञ्जस्यके अन्दर मिलाकर रखती है। यही जो एक ओर विकास और दूसरी ओर निरोध है, इसीके अन्दर सुन्दरता है,—संसारके अन्दर इसी छोड़ देने और खींच रखनेकी नित्य लीलाओंमें ही सुन्दरमय भगवान् अपनेको सर्वत्र प्रकाशित कर रहा है। एक जादूगर जब बहुतसे गोलोंको लेकर खेल करता है, तब गोलोंको एक साथ फेंकने और पकड़ लेनेके द्वारा ही विलक्षण चातुर्य और सौन्दर्यकी सृष्टि किया करता है। इसके बीचमें यदि किसी एक गोलेकी क्षणकालीन अवस्था ही हमें दिखाई देती है, तो या तो उसका उठना दिखाई देता है और या गिरना, और क्योंकि हम उसे पूर्णतया नहीं देख पाते, इसलिए आनन्दकी पूर्णता भी नहीं होती। संसारकी आनन्द-लीलाको भी हम जितने अधिक पूर्ण रूपमें देखते हैं, उतना ही हमको पता लगता है कि अच्छा-बुरा, सुख-दुःख, जीवन-मृत्यु सब ही उठकर और गिरकर विश्व-सङ्गीतके छन्दकी रचना कर रहे हैं—यदि हम समग्रभावसे देखें तो इस छन्दका कहीं भी विच्छेद नहीं है। कहींपर भी सौन्दर्यकी कमी नहीं है। संसारके अन्दर सौन्द-

र्यको इस प्रकार समग्ररूपसे देखना सीखना ही सौन्दर्य-बोधका अन्तिम लक्ष्य है। मनुष्य इस प्रकार देखनेकी ओर जितना आगे बढ़ रहा है, अपने आनन्दको उतना ही वह बढ़ाता चला जा रहा है। पहले हमारे लिए जो वस्तु निरर्थक थी, वह अब सार्थक होती चली जाती है। पहले मनुष्य जिसके प्रति उदासीन था, धीरे धीरे वह उसको अपने साथ मिला रहा है और जिसको वह असम्बद्ध समझता था, उसको बृहत् संसारके अन्दर देखकर उसके ठीक स्थानको समझ रहा है और सन्तुष्ट हो रहा है। समस्त विश्वके अन्दर मनुष्यके इस प्रकार सौन्दर्य देखनेका वृत्तान्त, संसारपर उसके, आनन्दके द्वारा अधिकार: करनेका इतिहास मनुष्यके साहित्यमें स्वयमेव रक्षित हो रहा है।

किन्तु सौन्दर्यको हम बहुधा समस्त सत्यसे पृथक् करके देखते हैं और उसके लिए पार्टीबन्दी करते हैं। यह अकसर देखा जाता है। यूरोपमें सौन्दर्य-चर्चा और सौन्दर्य-पूजाकी एक साम्प्रदायिक सनक है। वहाँ खास तौरपर सौन्दर्यका अनुशीलन करना मानो एक खास बहादुरीका काम है, ऐसे ढँगसे एक पार्टीके लोग अपनी जय-ध्वजा उड़ाते फिरते हैं। इस प्रकार स्वयं ईश्वरको भी अपनी पार्टीमें सम्मिलित करके, अपनी बड़ाई करते और दूसरी पार्टीके साथ लड़ाई करते घूमते हुए लोग देखे गये हैं।

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि सौन्दर्यको खास तौर पर प्राप्त करनेके लिए संसारकी अन्य समस्त वस्तुओंकी परवाह न करके केवल उसीके पीछे दौड़ते फिरना संसारके पन्दरह आना लोगोंका काम नहीं है। सदा सुन्दर और असुन्दरसे बचकर जैन तपस्त्रियोंके समान यदि हम अपना प्रत्येक क़दम तोल तोलकर रक्खेंगे, तो हम चल ही नहीं सकेंगे।

संसारके अन्दर सौन्दर्य और पवित्रताका अत्यन्त बारीकीसे हिसाब करनेवाले लोग इन वस्तुओंका मोटा हिसाब करनेवाले लोगोंसे घृणा करते हैं। वे उनको असभ्य कहते हैं और मोटा हिसाब करनेवाले लोग सङ्कोचके साथ उनके अपमानको बरदाश्त कर लेते हैं।

यूरोपके साहित्यमें सौन्दर्यकी दुहाई देकर जो कुछ सर्वसाधारण और स्वाभाविक है, उसको तुच्छ, Hum-drum कह कर तिरस्कारके साथ

दूर हटा देनेकी चेष्टा कहीं कहीं दिखलाई पड़ती है। हमें ऐसा याद पड़ता है कि कई दिन हुए किसी बड़े लेखकद्वारा लिखी हुई फ्रेंच भाषाकी एक पुस्तकका अँग्रेजी अनुवाद हमने पढ़ा था। वह पुस्तक अत्यन्त प्रसिद्ध है। कवि स्विनबर्नने उस पुस्तकको Gospel of Beauty अर्थात् 'सौन्दर्यका धर्मशास्त्र', यह उपाधि प्रदान की है। उसमें एक ओर एक पुरुषने और एक ओर एक स्त्रीने पृथ्वीके समस्त नरनारियोंमेंसे अपने सम्पूर्ण मनके अनुसार सुन्दरको ढूँढ़ निकालनेको अपने जीवनका व्रत बना लिया है। संसारमें जो कुछ प्रतिदिनका है, जो कुछ सबका है, जो कुछ साधारण है, उससे अपने आपको बिलकुल बचाकर और अधिकांश मनुष्योंकी जीवन-यात्राकी सामान्यताका पद-पदपर अपमान करके सारी पुस्तकके अन्दर आश्चर्यमय लिखनेकी चतुराईसे रङ्गके ऊपर रङ्ग और स्वरके ऊपर स्वर चढ़ाकर सौन्दर्यके एक अत्यन्त दुर्लभ उत्कर्षके प्रति एक अत्यन्त तीव्र उत्सुकता प्रकट की गई है। हम तो समझते हैं कि हमने इतनी निष्ठुर कोई पुस्तक नहीं पढ़ी। हमारे मनमें एक मात्र यही विचार उठता था कि यदि सौन्दर्यका आकर्षण मनुष्यके मनको संसारसे इस प्रकार छीन ले, उसको चारों ओरके साथ मेल न रखने दे, जो कुछ साधारण है उसे तुच्छ कहे और जो कुछ हितकर है उसे ग्राम्य कहकर परिहास करे, तो ऐसे सौन्दर्यको धिक्कार है। यह तो ऐसा ही है जैसे अंगूरोंको मसलकर उनकी सारी शोभा और रस-गन्धको बाद देकर केवल उनकी शराबको रासायनिक प्रक्रियासे खींच लेना।

सौन्दर्य जात या छूत-छातको नहीं मानता, वह सबके साथ मिला हुआ है। वह हमारे क्षणकालके बीचमें ही चिरन्तनको, हमारी सामान्य मुखश्रीमें ही चिर-विस्मयको अच्छी तरह दिखा देता है। समस्त संसारके मूल स्वरको सौन्दर्य हमारे मनमें उठा देता है—समस्त सत्यको हम सौन्दर्यकी सहायतासे स्थूल रूपमें देख लेते हैं। एक दिन, फाल्गुन महीनेका सायङ्काल था, मैं एक गाँवके रास्तेपरसे जा रहा था। फूले हुए सरसोंके खेतसे आई हुई गन्धने उस ऊँचे नीचे रास्तेको, उस पुष्करिणीके किनारेको, उस झिलमिलाते सायङ्कालकी वेलाको, मेरे हृदयमें हमेशाके लिए अङ्कित कर दिया। जिसको मैं कभी आँख उठाकर न देखता, उसको उसने मुझे अच्छी तरह दिखा दिया, जिसको मैं भूल जाता, उसे भूलने नहीं

दिया। सौन्दर्यके द्वारा हम जिस वस्तुको देखते हैं, उसमें केवल हम उसीको नहीं देखते, अपि तु उसके साथकी और सब चीजोंको देखते हैं; एक मधुर गान समस्त जल, स्थल और आकाशको, अस्तित्व मात्रको, एक प्रकारके गौरवसे भर देता है। जो साहित्य-वीर हैं, उन्होंने भी समस्त वस्तुओंके गौरवकी घोषणा करनेका ही भार लिया है। वे भाषा, और छन्द-रचनाप्रणालीके सौन्दर्यके द्वारा हमें इस प्रकारकी समस्त वस्तुओंको दृष्टि-गोचर कराते हैं, जिनको हम अतिप्रत्यक्ष समझकर कभी आँख उठाकर भी न देखते। अभ्यासके कारण हम सामान्य वस्तुओंको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखते हैं; परन्तु जब वे उसी सामान्य वस्तुको अपने रचना-सौन्दर्यके गौरवके साथ उपस्थित करते हैं, तो हमको पता लगता है कि वे वस्तुएँ सामान्य नहीं हैं। सौन्दर्यके वेष्टनसे उनका सौन्दर्य और मूल्य स्पष्ट हो जाता है। साहित्यके प्रकाशमें हम अतिपरिचितको एक बिलकुल नए रूपमें देखते हैं, अतएव हम सुपरिचित और अतिपरिचितको एक विस्मयपूर्ण अपूर्वतामें गम्भीर रूपसे प्राप्त करते हैं।

किन्तु मनुष्यकी बुद्धिमें जब विकार पैदा हो जाता है, तब वह सौन्दर्यको उसके परिवेशसे अलग करके उसे विपरीत कार्योंमें लगाया करता है। सिरको यदि हम शरीरसे अलग कर लें, तो जिस प्रकार वह कटा हुआ सिर शरीरसे विरुद्ध हो जाता है, इसकी भी वही दशा हो जाती है। यदि हम सौन्दर्यको साधारण वस्तुओंसे अलग कर लें, तो हम उसे साधारणके विरोधमें खड़ा कर लेते हैं, उसको सत्यका गृह-शत्रु बनाकर उसकी सहायतासे अपने दिलमें साधारण वस्तुओंके प्रति विरक्ति पैदा करनेका उपाय करते हैं। वस्तुतः तब वह वस्तु सौन्दर्यके यथार्थ धर्मको ही छोड़ देती है। चाहे धर्म हो, चाहे सौन्दर्य हो, चाहे और भी कोई बड़ी वस्तु हो, जब बाड़ेसे घेरकर उसमें कुछ विशेषता लानेकी चेष्टा की जाती है, तब उसका सच्चा स्वरूप नष्ट हो जाता है। नदीको अपना बनानेके लिए यदि हम उसके चारों ओर बन्द बाँध डालें, तो वह नदी नहीं रहती, वह एक पुष्करिणी बन जाती है।

इस प्रकार संसारमें बहुतसे लोगोंने सौन्दर्यको सङ्कीर्ण बनाकर उसको भोग-विलास, अहङ्कार और उन्मादकी चीज बना डाला है। इसी लिए कई

सम्प्रदाय सौन्दर्यको एक तरहका खतरा समझते हैं। वे कहते हैं कि सौन्दर्यकी सुवर्ण-लङ्कापुरी एक मात्र विपत्तिमें डालनेके लिए है।

परन्तु ईश्वरकी कृपासे खतरा किस जगह नहीं है? जलमें, स्थलमें, अग्निमें, वायुमें, सभी जगह खतरा है। यह खतरा या विपत्ति ही हमें प्रत्येक वस्तुके सच्चे रूपसे परिचित कराके उसके ठीक व्यवहारको सिखा देती है।

इसके उत्तरमें कहा जाएगा कि जल, स्थल, अग्नि और वायुके द्वारा हमारी इतनी आवश्यकताओंकी पूर्ति होती है कि उनके अभावमें हम क्षणभर भी जीवित नहीं रह सकते। इस लिए समस्त आपत्तिओंको झेल कर भी उनका अच्छी प्रकार परिज्ञान करना पड़ता है; किन्तु सौन्दर्य-रसका भोग हमारे लिए अत्यावश्यक नहीं है, इसलिए वह तो एक मात्र आपत्ति ही है। उसका उद्देश्य यही मालूम पड़ता है कि ईश्वर हमारे मनकी परीक्षा लेनेके लिए माया-मृगको हमारे सामने दौड़ा रहा है। इसके प्रलोभनमें पड़कर यदि हम असावधान हो जाएँगे, तो हमारे जीवनके सार धनकी चोरी हो जाएगी।

रक्षा करो! ईश्वर परीक्षक है और संसार परीक्षास्थल है; ये समस्त मिथ्या विभीषिकाओंकी बातें अब सहन नहीं होतीं। अपने नकली विश्व-विद्यालयोंके साथ ईश्वरके सच्चे विश्वविद्यालयकी तुलना मत करो। ईश्वरके विश्व-विद्यालयमें न तो परीक्षा होती है और न परीक्षाकी कोई आवश्यकता है। उस विद्यालयमें केवल शिक्षा ही मिलती है। वहाँ तो एकमात्र विकास ही होता रहता है। इसी कारण मनुष्यके मनमें सौन्दर्य-बोध करनेकी प्रबल अभिलाषा है—उसके द्वारा हमारा विकास ही होता है। आपत्तियाँ आती हैं तो आने दो, किन्तु उनके कारण यदि हम विकासके मार्गको छोड़ देंगे, तो हमारा भला नहीं होगा।

विकासका क्या तात्पर्य है, यह हम पहले ही बता चुके हैं। सबके साथ हर एकका मेल जितने प्रकारसे जितनी दूर तक व्याप्त होता है, उतना ही हरएकका विकास होता है। स्वर्गाधिपति इन्द्रने इसी योग-साधनमें विघ्न डालनेके लिए सौन्दर्यको मर्त्यलोकमें भेजा है, यदि यह बात सत्य है, तो यह बात माननी ही पड़ेगी कि इन्द्र देवकी इस प्रवञ्चनाको दूरहीसे नमस्कार करके अपनी दोनों आँखोंको मूँद लेना ही अच्छा है।

किन्तु इन्द्रदेवके प्रति हमारे हृदयमें रत्तीभर भी अविश्वास नहीं है। उसके किसी दूतको भी मार कर खदेड़ देना चाहिए—इस तरहकी बात हम नहीं कह सकते। हम इस बातको निश्चयपूर्वक जानते हैं कि सत्यके साथ प्रगाढ़ और अखण्ड मेल करानेके लिए ही सौन्दर्य-बोध हँसीभरे मुखसे हमारे हृदयमें अवतीर्ण हुआ है। वह बिलकुल निष्प्रयोजन मेल है—वह एकमात्र आनन्दका मेल है। नीलाकाश जब बिलकुल निष्प्रयोजन हमारे हृदयपर अधिकार करके समस्त श्यामला धरतीके ऊपर अपने ज्योतिर्मय पीताम्बरको फैला देता है, तभी हम कहते हैं 'सुन्दर' है, वसन्तमें वृक्षोंके नए नरम पत्ते वनलक्ष्मीकी अँगुलियोंके समान जब बिना किसी मतलबके हमारी दोनों आँखोंको इशारेसे बुलाते हैं, तभी हमारे मनमें सौन्दर्य-रस उछल पड़ता है।

किन्तु सौन्दर्य-बोध केवल सुन्दर नामक सत्यके एक अंशकी ओर ही हमारे हृदयको आकर्षित करता है और बाकी अंशोंकी ओरसे हमारे हृदयको हटा देता है, उसकी यह अनुचित बदनामी जिस प्रकार दूर होगी, अब हम इसी बातपर विचार करते हैं।

हमारी ज्ञान-शक्ति ही क्या संसारके समस्त सत्यको अभी हमारे जाननेमें लाई है? हमारी कर्मशक्तिने ही क्या संसारकी समस्त शक्तिको आज ही हमारे व्यवहारके अधीन किया है? जगत्के एक अंशको हम जानते हैं, उसके अधिकांशको नहीं जानते। विश्वशक्तिका एक सामान्य अंश हमारे कार्योंमें लग रहा है—उसके अधिकांशको हम अपने कार्योंमें नहीं लगा सके हैं। फिर भी हमारा ज्ञान उसी ज्ञात जगत् और अज्ञात जगत्के द्वन्द्वको प्रतिदिन कुछ न कुछ नष्ट करता जा रहा है—युक्तिका जाल फैलाकर जगत्के समस्त सत्यको क्रमशः हमारी बुद्धिके अधिकारमें ला रहा है और जगत्को हमारे मनका जगत्, हमारे ज्ञानका जगत् बना रहा है। हमारी कर्मशक्ति जगत्की समस्त शक्तिको व्यवहारके द्वारा धीरे धीरे अपनी बना रही है और विद्युत्–जल–अग्नि–वायु प्रतिदिन हमारे बृहत् कर्म-शरीर बनते चले जा रहे हैं। हमारा सौन्दर्य-बोध भी शनैः शनैः समस्त जगत्को हमारे आनन्दका जगत् बनाता जा रहा है—

उसी ओर ही उसकी गति है। ज्ञानके द्वारा समस्त संसारमें हमारा मन व्याप्त होगा, कर्मके द्वारा समस्त जगत्‌में हमारी शक्ति व्याप्त होगी और सौन्दर्य-बोधके द्वारा समस्त जगत्‌में हमारा आनन्द व्याप्त होगा–मनुष्यत्वका यही लक्ष्य है। अर्थात् जगत्‌को ज्ञान, शक्ति तथा आनन्दके रूपमें प्राप्त करना ही मनुष्यत्वका लक्षण है।

किन्तु प्राप्ति और अप्राप्तिके विरोधके सिवाय प्राप्ति नहीं की जा सकती। द्वन्द्वके सिवाय विकास नहीं हो सकता। सृष्टिका यही प्रारम्भिक नियम है। एकसे दो होना और दोसे एक हो जाना ही विकास है।

विज्ञानकी दृष्टिसे इसपर विचार करके देखो। मनुष्यकी एक दिन ऐसी हालत थी कि वह वृक्ष, पत्थर, मनुष्य, बादल, चन्द्र, सूर्य, नदी, पहाड़, प्राणी और अप्राणीमें कोई भेद नहीं देख सकता था। तब मानों सभी कुछ उसके निकट समानधर्मावलम्बी था। क्रमशः उसकी वैज्ञानिक बुद्धिमें प्राणी और अप्राणी, चेतन और अचेतनका भेद स्पष्ट होने लगा। इस प्रकार अभेदसे पहले द्वन्द्वकी सृष्टि हुई। यदि ऐसा न होता तो वह प्राणके, चेतनाके, प्रकृत लक्षणोंको कभी जान ही न सकता। इधर वह लक्षणोंको जितने सत्य रूपमें जानने लगा–द्वन्द्व उतना ही दूर सरकने लगा। पहले प्राणी और उद्भिद्‌के बीचकी रेखा अस्पष्ट हुई; उद्भिद्‌का (वृक्ष आदिका) अन्त और चेतनताका प्रारम्भ कहाँ होता है, इस बातको स्पष्टतया नहीं कहा जा सका। उसके बाद आज जिनको कि हम जड़ कह कर निश्चिन्त हैं, उन धातुद्रव्योंमें भी प्राणोंके लक्षण विज्ञानके द्वारा जाननेका उपक्रम हो रहा है। अत एव जिस भेद-बुद्धिकी सहायतासे हमने प्राण वस्तुको पहचाना है, उसी पहचानके विकासके साथ साथ वह भेद क्रमशः लुप्त होता जाएगा—अभेदसे द्वन्द्व और द्वन्द्वसे ऐक्य प्रकाशित होगा और अन्तमें विज्ञान एक दिन उपनिषदोंके ऋषियोंके साथ एक स्वरमें कहेगा—"सर्वं प्राण एजति"—सब कुछ प्राणोंमें कम्पित हो रहा है।

जिस प्रकार सब कुछ प्राणोंमें कम्पित होता है, उसी प्रकार सब कुछ ही आनन्द है, इस बातको भी उपनिषद्‌ने कहा है। संसारके इसी निरवच्छिन्न आनन्दरूपको देखनेके लिए सुन्दर और असुन्दरका भेद पहले पहल स्पष्ट होता है। नहीं तो सुन्दरको जानना बिलकुल असम्भव होता।

हमें पहले पहल जब सौन्दर्य-बोध होता है, तब सौन्दर्यकी एकान्त स्वतंत्रता हमको मानो चोट मारकर जगाना चाहती है। इसके लिए विपरीतता ही उसका अस्त्र होता है। जगमगाता हुआ रङ्ग, गठनकी विचित्रता अपनेको चारों ओरकी म्लानतामेंसे बाहर निकालकर मानों हाँक देकर बुलाती है। सङ्गीत ऊँची ध्वनिकी उत्तेजनाका सहारा लेकर आकाशको मुग्ध करनेका प्रयत्न किया करता है। अन्तमें सौन्दर्य-बोध जितना विकसित होता जाता है, उतना ही स्वतंत्रताके स्थानपर सुसङ्गति, आघातके स्थानपर आकर्षण, आधिपत्यके स्थानपर सामञ्जस्य हमें आनन्द देता है। इस प्रकार हम पहले सौन्दर्यको चारों ओरकी वस्तुओंसे अलग करके जाननेका प्रयत्न करते हैं—उसके बाद सौन्दर्यको चारों ओरकी सब वस्तुओंसे मिलाकर चारों ओरकी सब वस्तुओंको ही सुन्दर कहकर पहिचान सकते हैं।

अलग करके थोड़ेसेमें देखनेसे हमें अनियम दिखाई देता है और चारों ओरके साथ अखण्डरूपमें मिलाकर देखनेसे हमें नियमका ज्ञान होता है; तब चाहे धुआँ आकाशमें उड़ जाए, और ढेला मट्टीमें गिर पड़े, सोला× जलमें तैरे और लोहा जलमें डूब जाय, तो भी इन समस्त द्वैतोंके अन्दर हम गुरुत्वाकर्षणके एक नियमके विच्छेदको कहींपर भी नहीं देखते।

जिस प्रकार ज्ञानको भ्रममुक्त करनेका यह तरीका है, उसी प्रकार यदि हम आनन्दको भी विशुद्धरूपमें जानना चाहें, तो हमें उसे खण्डतासे हटाकर सबके साथ मिलाना पड़ेगा। जिस प्रकार सामनेकी वस्तु जैसी प्रतीत हो, उसको वैसा ही सत्य समझ लेना विज्ञानमें अड़चनें उपस्थित करता है, उसी प्रकार सामनेकी जो वस्तु हमें मुग्ध करती है, उसीको सुन्दर मान लेनेसे आनन्दमें रुकावट पैदा होती है। जिस प्रकार अपनी प्रतीतिको सर्वत्र सब पहलुओंसे जाँचकर देखनेसे उसकी सचाईका परिज्ञान होता है, उसी प्रकार अपनी अनुभूतिको हम तब ही आनन्द कह सकते हैं, जब वह संसारकी सब चीजोंके साथ सब ओरसे मेल खाए। एक शराबी

× सोला एक तरहकी हलकी लकड़ी होती है जिससे हैट बनते हैं।

शराब पीकर चाहे कितना ही प्रसन्न क्यों न हो; किन्तु उसके सुखका विरोध नाना पहलुओंसे दिखाई पड़ता है। उसका अपना सुख दूसरेका दुःख होता है, आजका सुख कलका दुःख होता है और उसकी प्रकृतिके एक अंशको सुख और दूसरे अंशको दुःख होता है। अत एव इस सुखके द्वारा सौन्दर्य नष्ट होता है, आनन्दका भङ्ग होता है। प्रकृतिके समस्त सत्यके साथ इसका मेल नहीं होता।

नाना द्वन्द्वों और सुख-दुःखोंके द्वारा मनुष्य सुन्दरको, आनन्दको सत्यके सब तरफ फैलाकर बृहत् रूपमें जान रहा है। उसका यह ज्ञान कहाँ सञ्चित हो रहा है? जगत्की घटनाओंके विषयमें मनुष्यका ज्ञान चिरकालसे अनेक मनुष्योंके द्वारा स्मृतिबद्ध होकर विज्ञानके भण्डारको भर रहा है—इस सुयोगसे एक मनुष्यके ज्ञानको दूसरे मनुष्यके ज्ञानके साथ, एक समयके ज्ञानको दूसरे समयके ज्ञानके साथ परख लेनेकी सुविधा होती है। यदि ऐसा न हो, तो विज्ञान परिपक्व ही नहीं हो सकता। उसी प्रकार मनुष्यका सुन्दर और आनन्दका ज्ञान प्रत्येक देश और कालके साहित्यमें सञ्चित हो रहा है। सत्यपर मनुष्यके हृदयका अधिकार किस रास्तेसे किस प्रकार बढ़ता जाता है—सुखबोध किस प्रकार इन्द्रियतृप्तिसे आगे बढ़कर मनुष्यके समस्त मन, धर्मबुद्धि और हृदयपर अधिकार प्राप्त करता जाता है और इस प्रकार क्षुद्रको भी महान् और दुःखको भी प्रिय बना रहा है, मनुष्य निरन्तर अपने साहित्यमें उसी रास्तेके चिह्नोंको रखता जाता है। जो विश्व-साहित्यके पाठक हैं, वे साहित्यके अन्दर उसी राजपथपर चलकर—समस्त मनुष्य अपने हृदयोंसे क्या चाहते हैं और क्या प्राप्त करते हैं—सत्य किस प्रकार मनुष्यके निकट मङ्गल और आनन्दरूपमें प्रकट होता है—इसीको जानकर, अनुभव करके कृतार्थ होते हैं।

यह बात याद रखनी चाहिए कि मनुष्यका परिचय इस बातसे नहीं मिलता कि वह क्या जानता है; किन्तु इस बातसे मिलता है कि वह किस वस्तुसे प्रसन्न होता है। मनुष्यका परिचय हमारे लिए उत्सुकताजनक होता है। जब हम देखते हैं कि किसीने सत्यके लिए देशनिकालेके दण्डको अङ्गीकार कर लिया है, तब उस वीरपुरुषकी आनन्दकी परिधि हमारे

हृदयके सम्मुख परिस्फुट हो जाती है। हम देखते हैं कि उस आनन्दने इतने बड़े विस्तृत स्थानपर अधिकार प्राप्त कर लिया है कि निर्वासनका दुःख अनायास ही उसका एक अङ्ग बन गया है। इस दुःखके द्वारा ही आनन्दकी महत्ता प्रामाणित होती है। धनके अन्दर ही जिनका आनन्द सीमित है, वे धनके नुकसानके डरसे असत्य और अपमानको अनायास ही स्वीकार कर लेते हैं; वे अपनी नौकरीको कायम रखनेके लिए अन्याय करनेमें भी सङ्कोच नहीं करते;—वे लोग चाहे कितनी ही परीक्षाएँ क्यों न पास कर लें, चाहे कितने विद्वान् क्यों न हों, आनन्दशक्तिकी सीमासे ही—उनको किस वस्तुके अन्दर आनन्द मिलता है, इससे ही—उनका यथार्थ परिचय मिलता है। बुद्धदेवके आनन्दकी सीमा कितनी विशाल थी कि राज्य-सुखका आनन्द भी उसको अपने अन्दर बाँधकर नहीं रख सका। जब हरएक मनुष्य मनुष्यत्वके आनन्दकी सीमाकी विशालताको देखता है, तब मानों अपने गुप्त धनका दूसरोंके बीचमें पता लगा लेता है, अपने ही बाधामुक्त स्वरूपको बाहर देख पाता है। इस प्रकारके महान् चरित्रोंमें यदि हम आनन्द-बोध करें, तो हमें अपने स्वरूपका ही ज्ञान होता है।

इसलिए मनुष्य अपने आनदकी अभिव्यक्तिके द्वारा साहित्यमें एक मात्र अपने ही नित्य और श्रेष्ठ रूपको प्रकाशित करता है।

हम जानते हैं कि साहित्यमेंसे क्षुद्र क्षुद्र प्रमाणोंको लेकर हमारी मोटी बातको टुकड़े टुकड़े कर देना अत्यन्त सुगम है। साहित्यमें जहाँ जो कुछ स्थान पा गया है, उस सबके उत्तरदायित्वका भार यदि हमारे ऊपर डाल दिया जाय, तो यह हमारे लिए कम आपत्ति नहीं है। किन्तु मनुष्यके समस्त बृहत् कार्योंके अन्दर सैकड़ों आत्मविरोध हुआ करते हैं। जब हम यह कहते हैं कि जापानी लोगोंने निर्भयता तथा साहससे लड़ाई की थी, तब यदि हम जापानी सेनाके प्रत्येक व्यक्तिके साहसका हिसाब करें, तो हमें बहुतसी त्रुटियाँ मिल जाएँगी। किन्तु यह बात सत्य है कि उन समस्त व्यक्तिविशेषोंके भयको भी सम्पूर्णतया आत्मसात् करके जापानी लोग साहसपूर्वक युद्धमें विजयी हुए थे। साहित्यमें मनुष्य अपने आपको बड़े रूपमें प्रकाशित करता है—वह क्रमशः अपने आनन्दको खण्डसे अखण्डकी

ओर, छोटेसे महान्‌की ओर अग्रसर करके व्यक्त करता है—यदि हम इस बातको बड़े रूपमें देखें, तो हमें इसकी सत्यता मालूम होती है। विकृति और त्रुटियाँ चाहे कितनी भी क्यों न हों, तो भी सम्पूर्णरूपसे देखने पर इसकी सत्यता प्रामाणित होती है।

हमें और एक बात ध्यानमें रखनी पड़ेगी। साहित्यके द्वारा हमको दो प्रकारसे आनन्दकी प्राप्ति होती है। एक तो वह सत्यको मनोहर रूपमें हमको दिखाता है और दूसरे वह हमें सत्यका दर्शन कराता है। सत्यका दर्शन कराना अत्यन्त कठिन कार्य है। हिमालयकी चोटी कितने हज़ार फुट ऊँची है, उसपर कितनी बरफ पड़ती है, उसके किस भागमें किस प्रकारकी वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं, इन सब बातोंको यदि हमें पूर्ण विस्तारसे भी बताया जाय, तो भी हमें हिमालयका दर्शन नहीं होता। जो थोड़ीसी ही बातोंसे हमें हिमालयका दर्शन करा सकते हैं, उनको हम कवि कहते हैं। हिमालय ही क्यों, यदि एक छोटीसी पुष्करिणी भी हमारे मनश्चक्षुके सामने उपस्थित कर दी जाय, तो हमें बड़ी प्रसन्नता होती है। हमने अपनी आँखोंसे बहुतसी पुष्करिणियोंको देखा है; किन्तु यदि हम उसको भाषाके द्वारा देखें, तो हम उसे एक नवीन रूपमें देखते हैं। मन जिस वस्तुको आँखोंद्वारा देखता है, भाषा यदि इन्द्रियस्वरूप बनकर उसको हमें दिखा सके, तो इससे मनको एक नए ही रसकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार साहित्य हमारी एक नई इन्द्रियके समान बनकर हमें जगत्‌को नए रूपमें दिखाता है। केवल नए रूपमें ही नहीं, भाषाकी एक और विशेषता भी है। वह मनुष्यकी अपनी वस्तु है—वह बहुत कुछ हमारे मनके द्वारा गढ़ी हुई है;—इसलिए बाहरकी जिस किसी वस्तुको भी वह हमारे पास लाती है, उसे विशेषतया मनुष्यकी अपनी वस्तु बना देती है। भाषा जिस तसवीरको खींचती है, वह केवल हमारे निकट इसीलिए आदर नहीं पाती कि वह बिलकुल ठीक तसवीर है, अपितु इसलिए कि मानों भाषाने उसके अन्दर मानव-रसको मिला दिया है। इसी कारण वह तसवीर हमारे हृदयके निकट एक विशेष आत्मीयताको प्राप्त करती है। विश्व-जगत्‌को यदि हम भाषाके द्वारा मनुष्यके अन्दर सञ्चारित कर दें, तो वह हमारे अत्यन्त निकट आ जाता है।

इतना ही नहीं, भाषाके द्वारा जो तसवीर हमारे निकट आती है, वह अपने समस्त दोष और त्रुटियोंको लेकर नहीं आती। वह उतनी ही आती है, जितनेमें वह एक खास समग्रताको प्राप्त कर लेती है। इसलिए हम उसको एक अखण्ड रसके साथ देखते हैं—किसी अनावश्यक अधिकताके कारण रसभङ्ग नहीं होता। उसी सुसम्पूर्ण रसके द्वारा देखनेसे ही वह तसवीर हमारे अन्तःकरणको इतने बड़े रूपमें दिखाई देती है।

कविकङ्कण-चण्डीमें भाँड़ूदत्तका जो वर्णन किया गया है, उस वर्णनमें मनुष्यके चरित्रका एक बड़ा पहलू दिखाया गया है, यह बात नहीं है; किन्तु इस प्रकारके चतुर, स्वार्थपर और जबर्दस्ती मुखिया बननेमें निपुण बहुतसे लोगोंको हमने देखा है। उनका सङ्ग सुखकर होता है, यह भी हम नहीं कह सकते; किन्तु कविकङ्कण इस प्रकारके मनुष्योंको जो हमारे निकट मूर्तिमान् कर सका है, उसका एक विशेष कारण है। भाषाके कौतुकमय रसमें वह इस तरह चित्रित हो गया है कि वह केवल कालकेतुकी सभामें ही नहीं, हमारे हृदयके दरबारमें भी अनायास ही स्थान पा गया है। प्रत्यक्ष संसारमें भाँड़ूदत्त ठीक इसी प्रकारसे हमें दिखाई न देता। हमारे मनके निकट सुगमतया सहनयोग्य बनानेके लिए कविने भाँड़ूदत्तको आवश्यकतासे अधिक बड़े रूपमें उपस्थित नहीं किया है, किन्तु प्रत्यक्ष संसारका भाँड़ूदत्त ठीक इतना ही नहीं है, इसीलिए वह हमें इस प्रकार दिखाई नहीं देता। वह हमें किसी अंशमें समग्र रूपसे दिखाई नहीं देता, अतएव हमें उसमें कोई विशेष आनन्द नही मिलता। कविकङ्कण-चण्डीमें भाँड़ूदत्त अपनी समस्त अनावश्यक अधिकताको छोड़कर केवल एक ही समग्र रसकी मूर्तिमें हमारे सन्मुख प्रकाशित हुआ है।

ऊपर जिस प्रकार भाँड़ूदत्तके विषयमें कहा है, उसी प्रकार सब चरित्रोंके विषयमें कहा जा सकता है। रामायणके राम केवल महान् होनेके कारण हमें आनन्द देते हैं, यह बात नहीं है; किन्तु वह हमारे लिए सुगोचर हैं—यह भी उसका एक कारण है। राम जितने समग्र रसमें हमें दिखाई पड़ते हैं—समस्त विक्षिप्तताको हटा कर रामायण केवल उतने ही रामके स्वरूपको हमें दिखाती है। इसी कारण हम उन्हें

इतनी स्पष्टतासे देखते हैं और स्पष्ट देखनेमें ही मनुष्यको एक विशेष आनन्द मिलता है। स्पष्ट देखनेका तात्पर्य ही यही है कि किसी एक समग्र-भावसे देखना—मानों अन्तरात्माको देखना। इस प्रकार साहित्य एक साम-ञ्जस्यकी सुषमाके अन्दर एक समस्त चित्रको दिखाता है, जिससे हमें आनन्द मिलता है। यही सुषमा सौन्दर्य है।

एक बात और ध्यानमें रखने योग्य है। साहित्यका एक बड़ा अंश, उसका उपकरणविभाग है। पूर्त्तविभाग (Public Works Department) में केवल इमारत ही तैयार होती है, यह बात नहीं है, उसके द्वारा ईंटोंकी भट्टी भी जलाई जाती है। ईंटें इमारत नहीं हैं, यह कहकर साधारण लोग अवज्ञा कर सकते हैं, किन्तु पूर्त्तविभाग उसके मूल्यको जानता है। साहित्यके जो उपकरण हैं, साहित्यके राज्यमें उनका मूल्य कम नहीं है। इसी कारण बहुधा केवल भाषाका सौन्दर्य, केवल रचनाकी निपुणता भी साहित्यमें आदर प्राप्त करती है।

मनुष्य अपने हृदयके भावोंको प्रकाशित करनेके लिए कितना व्याकुल है, इसे वर्णन करके समाप्त नहीं किया जा सकता। हृदयका धर्म ही यही है। यदि वह अपने भावको दूसरोंका भाव बना सके, तो बच जाय। कार्य अत्यन्त कठिन है, इसी कारण उसकी व्याकुलता भी अत्यन्त अधिक है। अतएव जब हम देखते हैं कि किसीने किसी बातको अत्यन्त चमत्कारपूर्वक कहा है, तो हमको इतना आनन्द होता है। प्रकाशित करनेकी रुकावटोंका दूर होना भी हमारे लिए एक अत्यन्त मूल्यवान् कार्य जान पड़ता है। इससे हमारी शक्ति बढ़ जाती है। जो बात प्रकाशित होती है, वह यदि विशेष मूल्यवान् न भी हो, तो भी यदि उस प्रकाशित करनेके तरीकेके अन्दर कोई असामान्यता हो, तो मनुष्य उसे आदरपूर्वक रख लेता है। इसी कारण ऐसे वैसे विषयोंका अवलम्बन करके केवल अभिव्यक्ति करनेकी लीलासे ही प्रकाशित की गई रचनाएँ साहित्यमें अनादृत नहीं हुईं। उनके द्वारा मनुष्य केवल अपनी क्षमताको व्यक्त करके आनन्ददान करता है, यह बात नहीं है; किन्तु किसी भी उपलक्ष्यके द्वारा एकमात्र अपनी अभिव्यक्तिके साथ खेल करानेमें उसे जो आनन्द मिलता है, वह हमारे अन्दर बड़े आनन्दको सञ्चारित कर देता है। जब हम देखते हैं कि कोई

मनुष्य किसी कठिन कार्यको सहज ही कर रहा है, तो हमें आनन्द होता है, किन्तु जब हम देखते हैं कि विना किसी प्रयोजनके कोई मनुष्य किसी तुच्छ वस्तुके सहारे अपने समस्त शरीरको चतुराईसे चला रहा है, तब उस तुच्छ वस्तुकी गति-भङ्गीमें उस व्यक्तिके प्राणोंका वेग, उद्यमका उत्साह अभिव्यक्त होता है, जिससे हमारे अन्दरके प्राण चञ्चल हो उठते हैं और हम प्रसन्न हो जाते हैं। साहित्यके अन्दर भी हृदयकी अभिव्यक्तिके लक्ष्य-हीन नृत्यकी चञ्चलताने यथेष्ट स्थान प्राप्त किया है। स्वास्थ्य, श्रान्तिहीन कार्यकी निपुणतामें भी अपनेको प्रकाशित करता है और स्वास्थ्य केवल स्वास्थ्य रूपमें भी विना किसी आवश्यकताके अपनेको प्रकाशित किया करता है। इसी प्रकार साहित्यमें मनुष्य केवल अपने भावोंकी अधिकताको ही प्रकाशित किया करता है, यह बात नहीं है; किन्तु वह अपनी अभिव्यक्तिकी क्षमताके उत्साहको भी व्यक्त करके प्रसन्न हुआ करता है। क्योंकि प्रकाश ही आनन्द है—इसीलिए उपनिषद् कहती है—आनन्दरूपममृतं यद्विभाति—जो कुछ प्रकाशित हो रहा है—वह उसीका आनन्दरूप और अमृतरूप है। साहित्यमें भी मनुष्य कितने विचित्र तरीकोंसे अपने आनन्द रूपको, अमृत रूपको व्यक्त कर रहा है—यही हमारे समझनेकी बात है।

साहित्य-सृष्टि

जिस प्रकार यदि एक धागेको बीचमें लटका दिया जाय, तो मिसरीके कण डलियोंके रूपमें उसके चारों तरफ लग जाते हैं, उसी प्रकार हमारे मनके अन्दर भी यदि बहुतसे विच्छिन्नभाव किसी एक सूत्रका सहारा पा सकें, तो वे उसके चारों ओर एक स्थूल रूपमें, आकृतिको प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं। अस्फुटतासे परिस्फुटता, विच्छिन्नतासे संश्लिष्टताको प्राप्त करनेके लिए हमारे मनके अन्दर मानों एक चेष्टा लगी हुई है। इतना ही क्यों, हम स्वप्नमें देखते हैं कि कुछ थोड़ासा इशारा मिलते ही उसी समय उसके चारों ओर बहुतसी भावनाएँ देखते ही देखते आकार धारण कर लेती हैं। मानों अव्यक्त भावनाएँ मूर्त्तिलाभ करनेका सुअवसर पानेके लिए सोते-जागते प्रेतके समान मनके अन्दर घूमती फिरती हैं। दिनका समय हमारे कार्य करनेका समय होता है, उस समय बुद्धिका कड़ा पहरा रहता है—वह हमारे दफ्तरमें व्यर्थकी भीड़ जमा करके किसी प्रकार कार्यको नष्ट नहीं होने देती। उसके राज्यमें हमारी भावनाएँ केवल कर्म-सूत्रका सहारा लेकर अत्यन्त सुसङ्गत भावसे अपनेको प्रकाशित करनेके लिए वाध्य होती हैं। छुट्टीके समय, जब हम चुपचाप बैठे रहते हैं, उस समय भी यही प्रक्रिया चलती रहती है। सम्भवतः किसी फूलके गन्धके बहाने उसी समय कितने दिनोंकी स्मृति उसके चारों ओर देखते ही देखते एकत्रित हो जाती है। ज्यों ही एक बात बन जाती है, त्यों ही उसके सहारे ज्यों त्यों करके कितने ही बातें पीछे पीछे आकार धारण करती चली जाती हैं, उनका कहीं अन्त नहीं होता। यह एकमात्र किसी न किसी प्रकार किसी न किसी रूपमें बन जानेकी चेष्टा है। भावना-राज्यमें इस चेष्टाका कहीं अन्त नहीं है।

जब यह आकृतिलाभ करनेकी चेष्टा सफल हो जाती है, तब उसके बाद स्थिरतापूर्वक रहनेके प्रयत्नकी बारी आती है। कटहलके वृक्षपर उपयुक्त समयपर एक वारमें फल तो बहुतसे निकलते हैं, किन्तु जो फल छोटी

डालियोंमें निकलते हैं, जिनके डंठल बिलकुल पतले होते हैं, वे किसी प्रकार जरासी कटहल-लीलाको प्रारम्भ करते ही फिर अव्यक्तमें अन्तर्धान हो जाते हैं।

हमारी भावनाओंकी भी यही अवस्था होती है। जो भावनाएँ किसी प्रकार इस तरहके सूत्रका सहारा प्राप्त कर लेती हैं, जो टिकाऊ होता है, वे अपने पूर्ण आयतनमें विकसित हो जाती हैं। उनके समस्त सूक्ष्मांश अच्छी तरह सुन्दरताके साथ समुन्नत हो जाते हैं—उनका अस्तित्व सार्थक हो जाता है और जो भावनाएँ किसी प्रकार आकार धारण करनेके लिए थोड़ासा स्थान पाती हैं, वे बिलकुल टेढ़ी-मेढ़ी और छिन्न-भिन्न होकर विदाई लेनेमें देरी नहीं करतीं।

इस प्रकारके भी कुछ वृक्ष होते हैं जिनमें कलियाँ आनेके साथ ही झड़ जाती हैं, फल होने तक टिकती ही नहीं हैं। इसी प्रकार इस प्रकारके मन भी होते हैं जिनमें भावनाएँ केवल आती जाती रहती हैं, किन्तु भावरूपी आकार धारण करनेका पूरा अवसर नहीं प्राप्त करतीं। लेकिन भावुक लोगोंके चित्तमें भावनाएँ पूर्णरूपसे भाव बनकर विकसित हो सकती हैं, क्यों कि उनमें इस तरहका रस और तेज होता है। इसमें सन्देह नहीं है कि बहुतसी नष्ट भी हो जाती हैं; किन्तु बहुत सी सफल भी हो जाती हैं।

वृक्षोंके जो फल पूर्ण रूपसे विकसित हो जाते हैं, वे यह विचार करते हैं कि डालियोंमें बँधे रहनेसे ही हमारा उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता। हम पककर, रसोंसे भरकर, रंगोंसे रंगाकर, गन्धसे मस्त होकर और गुठलियोंसे सख्त होकर, वृक्षको छोड़कर बाहर जाएँगे। उस बाहरकी जमीनपर यदि हम ठीक तौर पर न गिर सकें, तो हमारा अस्तित्व सार्थक नहीं हो सकता। भावुकोंके मनमें भी जब भावनाएँ, भावके रूपमें बन जाती हैं, तो वे भी इसी प्रकार विचार करती हैं। वे कहती हैं कि यदि कोई सुअवसर मिला, तो विश्व-मानवकी मानसिक भूमिपर नए जन्म और अनन्तजीवनकी लीला करनेके लिए हम निकल पड़ेंगी। पहले पैदा होनेका सुयोग, फिर विकसित होनेका सुयोग और उसके बाद बाहर निकलकर अच्छी

भूमि प्राप्त करनेका सुयोग, यदि ये तीनों सुयोग मिल जायँ, तो मनुष्यके मनकी भावनाएँ कृतार्थ हो जाती हैं। भावनाएँ सजीव पदार्थके समान मनुष्यको एकमात्र इसी सफलताकी ताकीद किया करती हैं। इसी कारण मनुष्य मनुष्यका चुपचाप सम्मेलन हो रहा है। अपनी भावनाओंके भारको हलका कर देने तथा अपने मनके भावोंको दूसरोंके मनोंद्वारा विचारे जानेके लिए एक मन दूसरे मनको ढूँढ़ रहा है। इसीलिए स्त्रियाँ घाटोंमें इकट्ठी होती हैं, मित्र मित्रके पास दौड़ कर आते हैं, चिट्ठियाँ आती जाती हैं। इसी लिए सभा-समिति, तर्क-वितर्क, लेखालेखी और वाद-प्रतिवाद होते हैं। इतना ही क्यों, इसके लिए मारपीट तक भी हो जाती है। मनुष्यके मनकी भावनाएँ सफलताकी प्राप्तिके लिए अन्दर ही अन्दर मनुष्यको बलपूर्वक ताकीद करती रहती हैं; मनुष्यको अकेला नहीं रहने देतीं; और इसीकी ताड़नासे सारी पृथिवीके मनुष्य चुप होकर और बोलकर दिनरात कितना अनर्गल प्रलाप कर रहे हैं, इसका कुछ ठिकाना नहीं है। वह सब प्रलाप कितनी कथा-कहानियोंमें, गल्प-अफवाहोंमें, चिट्ठी-पत्रियोंमें, मूर्तियोंमें, चित्रोंमें, गद्य-पद्यमें, काम-काजमें कितनी विचित्र सजावटोंमें, कितने प्रकारके आकारोंमें, कितने सुसङ्गत और असङ्गत आयोजनोंमें मनुष्य-संसारके अन्दर अत्यधिक रूपमें प्रवाहित हो रहा है, यदि हम इसको मनश्चक्षुद्वारा देखते हैं, तो हमें हैरान होना पड़ता है।

एक मनकी भावना दूसरेके मनके अन्दर सार्थकता प्राप्त करे, इस प्रकारकी चेष्टा समस्त मानव-समाजमें हो रही है। इसी चेष्टाके द्वारा हमारे भाव स्वभावतः एक इस प्रकारका रूप धारण कर लेते हैं, जिससे वे सिर्फ भावुकोंके लिए ही नहीं रहते। बहुधा यह अलक्षितभावसे हुआ करता है। विचार करनेपर सम्भवतः सभी लोग इस बातसे सहमत होंगे कि जब हम कोई बात अपने किसी मित्रसे कहते हैं, तब वह उसी मित्रके मनके अनुसार कुछ न कुछ अपनेको गढ़ लेती है। हम एक मित्रको जिस तरह चिट्ठी लिखते हैं, ठीक उसी प्रकार दूसरे मित्रको नहीं लिख सकते। हमारे भाव विशेष मित्रके निकट सम्पूर्णता प्राप्त करनेकी गूढ चेष्टाके द्वारा विशेष मनकी प्रकृतिके साथ कितने ही अंशोंमें समझौता कर लेते हैं। वस्तुतः हमारी बात वक्ता और श्रोता दोनोंके मेलसे ही तैयार होती है।

इसी कारण साहित्यमें लेखक जिनके सम्मुख अपने लेखोंको उपस्थित करता है, मन ही मन अपने बिना जाने भी इनकी प्रकृतिके साथ अपने लेखोंको मिला लेता है। दाशुरायकी पाञ्चाली केवल दाशुराय या दाशरथीकी ही नहीं है; जो समाज उस पाञ्चालीको सुनता है—उसीके साथ मिलाकर इस पाञ्चालीको रचा गया है। इसलिए इस पाञ्चालीमें केवल दाशरथीकी ही मनकी बात नहीं पाई जाती, इसके द्वारा एक खास समयकी, खास मण्डलीके अनुराग, विराग, श्रद्धा, विश्वास, रुचि आदि स्वयमेव प्रकाशित हुए हैं।

इस प्रकार लेखकोंमेंसे किसीने किसी मित्रको, किसीने किसी सम्प्रदायको, किसीने किसी समाजको और किसीने सार्वकालिक मानवको अपनी बात सुनानी चाही है। जो कृतकार्य हुए हैं, उनकी रचनाओंमें विशेष रूपसे उस मित्रका, समुदाय, समाज या विश्व-मानवका कुछ न कुछ परिचय पाया जाता है। इस प्रकार साहित्य केवल लेखकका ही नहीं किन्तु उनका भी परिचय कराता है, जिनके लिए कि वह लिखा गया है।

वस्तु-जगत्में ठीक वस्तु जब ठीक स्थानपर सबके साथ मिलकर बैठती है, तब चारों ओरकी अनुकूलता पाकर वह स्थिर हो जाती है—यह बात भी उसी प्रकार होती है। अतएव जो वस्तु एक स्थानपर टिक जाती है, वह केवल अपना ही परिचय नहीं देती; किन्तु अपने चारों ओरकी वस्तुओंका भी परिचय देती है—क्योंकि वह अपने कारण नहीं किन्तु चारों ओरकी वस्तुओंके कारण स्थिर हो रही है।

अब साहित्यकी उसी प्रारम्भिक बातको, उसी स्थूल रूपमें बन उठनेकी बातको विचार कर देखिए। इसके लिए दो एक दृष्टान्त दिए जाते हैं।

न जाने कितने नववर्षाके बादल, बलाकाकी पंक्तियाँ, पानीसे सिंचनेके बाद तपी हुई धरतीकी सुगन्ध,—न जाने कितने पहाड़-जङ्गलों, नदी-नालों, नगर-ग्रामोंके ऊपर होकर घनपुञ्ज-गम्भीर आषाढ़का स्निग्ध सञ्चार, कविके मनमें न जाने कितने दिनोंतक, कितने भावोंकी छाया, सौन्दर्यके पुलक और वेदनाके आभासको उठाता रहा है और किसके दिलमें नहीं उठाता! जगत् तो दिन

रात-ही हमारे मनको स्पर्श करता रहता है—और उसी स्पर्शके द्वारा हमारे मनके तारोंसे कुछ न कुछ ध्वनि निकलती ही रहती है।

एकदिन कालिदासके मनमें, यही बहुत दिनोंकी बहुतसी ध्वनियाँ एक सूत्रका सहारा लेकर, एकके बाद दूसरी एकत्रित होकर सुस्पष्ट हो उठीं और उन्होंने एक सुन्दर स्थूलरूप धारण कर लिया। बहुत दिनोंके बहुतसे भावोंके चित्र कालिदासके मनमें इसी शुभ-क्षणकी आशासे घूमते फिरते थे—आज वे यक्षकी विरह-वार्त्ताका आधार लेकर वर्णनके प्रत्येक भागमें, मन्दाक्रान्ताके प्रत्येक स्तवकमें घनीभूत हो उठे। आज वे एकके सहारे सब और सबके साथ प्रत्येक सुरक्षित हो गये।

सती लक्ष्मी कहनेसे हिन्दुओंके मनमें जो भाव जाग उठते हैं—उनसे हम अच्छी तरह परिचित हैं। हममेंसे प्रत्येकने इस प्रकारकी किसी न किसी स्त्रीको अवश्य देखा है, जिसको देखकर सतीत्वके माहात्म्यने हमारे हृदयको कुछ न कुछ प्रभावित किया है। घर-गृहस्थीके प्रतिदिनके कार्योंकी तुच्छताके अन्दर हमने कल्याणकी जिस दिव्यमूर्तिको बहुधा देखा है, वही देखनेकी स्मृति हमारे मनके अन्दर अस्पष्ट छायाके समान घूमती रहती है।

कालिदासने कुमारसम्भवकी कथाके सहारे सती नारियोंके विषयमें उन समस्त भावोंको जो कि हवामें उड़ते फिरते थे—किस प्रकार एकत्रित करके स्थूल रूपमें पकड़ लिया! घर घरमें निष्ठावती स्त्रियोंकी जिस कठोर तपस्याका आभास गृहकार्योंकी आड़से दिखाई पड़ता है, वही मन्दाकिनीकी धारासे धौत देवदारुकी वनच्छायामें, हिमालयकी चट्टानपर बैठी हुई देवीकी तपस्याके चित्रमें अनन्त कालके लिए प्रकाशित हो उठा।

जिसको हम गीति-काव्य कहा करते हैं, वह भी हमारे मनमें बहुत दिनोंमें संचित हुआ अव्यक्त भाव ही होता है जो किसी सुअवसरका आश्रय लेकर फूट उठता है। जैसे कि विद्यापतिका यह पद है—

भरा बादर माह भादर, शून्य मन्दिर मोर,—

(भादोंका महीना है, बादल भरे हुए हैं; परन्तु मेरा घर सूना है,

भाद्रपद मासमें जब आकाश बादलोंसे भरा हुआ होता है, तब खाली घरमें जो वेदना होती है वह न जाने कितने हृदयोंके अन्दर चुपचाप कितने दिनों तक चक्कर लगाती रही है—ज्यों ही बिलकुल ठीक छन्दमें वह बाहर अभिव्यक्त हुई, त्यों ही सभी हृदयोंका वह बहुत दिनोंका सञ्चित भाव मूर्ति धारण करके सुस्पष्ट हो गया।

हवामें पानीके कण तो उड़ते ही रहते हैं; किन्तु जब वे फूलोंकी ठण्डी पङ्खड़ियोंसे छूते हैं, तभी जमकर ओसके रूपमें दिखाई देते हैं। आकाशमें भाप या पानीके सूक्ष्म कण उड़ते फिरते हैं, दिखलाई नहीं देते हैं, परन्तु जब वे पहाड़ोंके साथ जाकर टकराते हैं, तो बादलोंके रूपमें इकट्ठे हो जाते हैं और जब वे जोरसे बरसते हैं तब नदी नाले प्रवाहित हो जाते हैं। उसी प्रकार गीति-काव्यमें सिर्फ एक ही भाव जमकर मोतीके समान चमक उठता है और बड़े बड़े काव्योंमें भावोंका सम्मिलित समुदाय झरनोंके रूपमें झरता है। मूल बात यह है कि भाप या पानीके कणोंके समान अव्यक्तभाव भी कविकी कल्पनाके साथ स्पर्श करते हैं और देखते ही देखते अपनी एक विचित्र सुन्दर मूर्ति बना कर प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

वर्षाऋतुके समान मनुष्य-समाजमें भी कभी कभी ऐसे समय आते हैं, जब कि हवाके अन्दर भावोंकी भाप बहुतायतसे विचरण किया करती है। चैतन्यके बाद बङ्गालकी यही अवस्था थी। तब समस्त आकाश प्रेमके रससे अभिषिक्त हुआ था। इसलिए उस समय जितने कवि थे सबने उसी रसकी भापको घनीभूत करके कितनी अपूर्व भाषा और कितने नए नए छन्दोंमें, कितनी अधिकता और वेगसे चारों ओर बरसाया था!

फ्रांसीसी विद्रोह (French Revolution) के समय भी मानव-प्रेमके भावकी उत्ताल तरङ्गें बड़े वेगसे उठीं थीं। उन्होंने नाना कवियोंके चित्तके साथ टकराकर कहीं करुणा और कहीं विद्रोहके स्वरमें अपनेको भिन्न भिन्न रूपोंमें लगातार प्रकाशित किया था। अतएव बात यह है कि मनुष्योंका मन जिन सब बहुतसे अव्यक्त भावोंको निरन्तर उच्छ्वसित करता रहता है, जो क्षणिक वेदना, क्षणिक चिन्ता, तथा क्षणिक बातोंमें विश्व-मानवके सुविशाल मनोलोकका आकाश आच्छन्न करके मँडराते फिरते

हैं—पृथक् पृथक् कवियोंकी कल्पना पृथक् पृथक् आकर्षण केन्द्रके समान बन कर उन्होंमेंसे पृथक् पृथक् दलोंको कल्पनासूत्रमें बाँधकर मनुष्यके मनके निकट सुस्पष्ट कर देती है। इसीसे हमें प्रसन्नता होती है। हमें प्रसन्नता क्यों होती है ? इसका कारण यह है कि स्वयमेव अपने आपको देखनेके लिए मनुष्य चिरकालसे प्रयत्नशील है—इसलिए जिस स्थानपर वह किसी प्रकारकी एकताके अन्दर अपने किसी प्रकारके विकासको देखता है, वहाँ उसका यह नियत प्रयत्न सार्थक हो जाता है जिससे उसे बहुत प्रसन्नता होती है। केवल साहित्य ही क्यों, दर्शन और इतिहासकी भी यही अवस्था है। दर्शन शास्त्रके समस्त प्रश्न और समस्त भावनाएँ अव्यक्त रूपमें समस्त मनुष्योंके मनके अन्दर विद्यमान हैं। किसी दार्शनिककी प्रतिभा जब उनमेंसे किसी एक समुदायको किसी एक एकताके अन्दर बाँध लेती है, तब उसका रूप, उसकी मीमांसा हमारे निकट अभिव्यक्त हो जाती है, हम अपने ही मनके विचारोंकी बनी हुई विशेष मूर्तिको उसके अन्दर देखते हैं। इतिहास लोगोंके अन्दर जनश्रुतिके रूपमें बिखरा हुआ होता है, किसी ऐतिहासिककी प्रतिभा जब उसे एक सूत्रमें चारों ओरसे बाँध लेती है, तब बहुत समयके अव्यक्त इतिहासकी व्यक्त मूर्ति हमारे सम्मुख प्रकाशित हो जाती है।

साहित्यके समालोचकोंका आलोच्य विषय यही है कि किस कविकी कल्पनामें मनुष्यके हृदयके कौन विशेष रूपने घनीभूत होकर अपने अनन्त वैचित्र्यके अपरूप प्रकाशको सौन्दर्यके द्वारा प्रस्फुटित किया है। कालिदासकी उपमा अच्छी है या भाषा सरस है, या कुमार-सम्भवके तृतीय सर्गका वर्णन सुन्दर है, या अभिज्ञान शाकुन्तलके चतुर्थ सर्गमें करुण रसकी अधिकता है, यह आलोचना पर्याप्त नहीं है। किन्तु कालिदासके समस्त काव्योंमें मानव-हृदयका एक विशेषरूप चित्रित हुआ है। उनकी कल्पनाने एक विशेष केन्द्रस्वरूप बनकर आकर्षण-विकर्षण-ग्रहण वर्जनके नियमोंके द्वारा मनुष्यके मनोलोकके अन्दर किस अव्यक्तको एक विशेष सुन्दरतासे व्यक्त किया है, समालोचकोंका यही विचारणीय विषय है। कालिदासने संसारमें पैदा होकर बहुत कुछ देखा, विचार किया, सहन किया कल्पना और रचना की—उनके इस भावना-वेदना और कल्पनामय जीव-

नके द्वारा मनुष्यके अनन्त रूपका एक खास रूप ही वाणीके द्वारा हमारे निकट व्यक्त हुआ है। समालोचक निश्चित करें कि वह रूप कौनसा है? यदि हममेंसे प्रत्येक ही असाधारण कवि होता, तो हममेंसे प्रत्येक अपने हृदयको इस तरह मूर्तिमान् करता जिसमें एक अपूर्वता दिखाई देती और इस प्रकार अन्तहीन विचित्र ही अन्तहीन एकको प्रकाशित करता। किन्तु हममें वह क्षमता नहीं है। हम अपनी बातको टूटी फूटी जबानमें कहते हैं, हम अपने आपको ठीक तौर पर नहीं जानते—जिसका हम सत्यके रूपमें प्रचार करते हैं वह या तो हमारा प्रकृतिगत सत्य नहीं होता और या फिर दस आदमियोंकी वार वार कही हुई वस्तुकी आवृत्तिमात्र होती है—इसीलिए हमने अपने समस्त जीवनमें क्या देखा, क्या समझा, क्या पाया, हम इसे समस्त रूपसे स्पष्टतया नहीं बता सकते। कवि लोग भी सम्पूर्णतया बतला सकते हैं यह बात नहीं है। उनकी भी समस्त वाणी स्पष्ट नहीं होती, सत्य नहीं होती, सुन्दर नहीं होती—अपनी प्रकृतिके गूढ़ तात्पर्यको स्पष्टतया प्रकाशित करनेमें उनका प्रयत्न भी हमेशा सफल नहीं होता। किन्तु जहाँ उनकी चेष्टाओंका अवसान हो जाता है, वहाँ उनसे भी अलक्षित भावसे एक विश्वव्यापी गूढ़ चेष्टाकी प्रेरणासे समस्त बाधाओं और अस्पष्टताओंके बीचमेंसे एक मानसरूप जिसको "हम पकड़नेकी चेष्टा करते हैं किन्तु पकड़ नहीं पाते" स्वयमेव कभी अल्पमात्रामें, कभी अधिक मात्रामें प्रकाशित हुआ करता है। जो गूढ़दर्शी भावुक होते हैं, वे कविके काव्यके अन्दर उसी समग्ररूपको देखते हैं, वे ही वास्तविक साहित्य-विचारक होते हैं।

हमारी इन सब बातोंका तात्पर्य यही है कि हमारे भावोंकी सृष्टि कोई खामखयाली चेष्टा नहीं है। यह वस्तु-सृष्टिके समान ही अमोघ नियमोंके अधीन है। प्रकाशके जिस आवेगको हम बाह्य जगत्के समस्त अणुपरमाणुओंके अन्दर देखते हैं, वही एक ही आवेग हमारी मनोवृत्तियोंके अन्दर प्रबल वेगसे कार्य कर रहा है। इसलिए जिन आँखोंसे हम पर्वत, जंगल, नद-नदी, मरुभूमि और समुद्रको देखते हैं, साहित्यको भी उन्हीं आँखोंसे देखना पड़ेगा—यह भी हमारा तुम्हारा नहीं है—यह भी निखिल सृष्टिका एक भाग है।

यदि हम इस प्रकार देखें तो साहित्यकी एकमात्र अच्छाई या बुराईका विचार करके ही चुप नहीं रहा जाय। उसके साथ ही उसके विकासकी प्रणाली तथा उसके बृहत् कार्य-कारण-सम्बन्धको देखनेकी उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो जाय। हम अपनी बातको दृष्टान्तके द्वारा स्पष्ट करनेका प्रयत्न करेंगे।

'ग्राम्य-साहित्य' नामक प्रबन्धमें हमने लिखा है कि देशके साधारण लोगोंके अन्दर पहले पहल कई भाव छोटे छोटे काव्य बनकर चारों ओर एकत्रित होकर चक्कर लगाते रहते हैं, उसके बाद कोई कवि उन्हीं छोटे छोटे काव्योंको एक बड़े काव्यके सूत्रमें बाँधकर उसे बृहद्रूपमें परिणत कर लेता है। महादेव-पार्वतीकी कई कथाएँ जो किसी भी पुराणमें नहीं हैं, राम और सीताकी कई कहानियाँ जो मूल रामायणमें नहीं मिलतीं—ग्रामोंके गायकों और कथक्कड़ोंके मुखोंसे गाँवोंके आँगनोंमें टूटे फूटे छन्दों और ग्राम्य भाषाके द्वारा न जाने कितने काल पर्यन्त प्रचारित होती रही हैं। ऐसे समय जब कोई राजसभाका कवि किसी कुटियाके प्राङ्गणमें नहीं अपितु किसी बृहत् विशिष्ट सभामें गान गानेके लिए निमंत्रित होता है, तो वह उन्हीं ग्राम्य कथाओंको आत्मसात् करके सुन्दर मार्जित छन्दोंमें और गम्भीर भाषामें बड़े रूपमें खड़ा कर देता है। प्राचीनको नवीन बनाकर, विच्छिन्नको एकत्रित करके दिखानेसे समस्त देश अपने हृदयको मानो स्पष्ट और प्रशस्त रूपसे देखकर प्रसन्न हो जाता है। इसके द्वारा वह अपने जीवनके मार्गमें एक कदम और आगे बढ़ जाता है। मुकुन्दरामकी चण्डी, घनरामका धर्म-मङ्गल, केतकीदासका 'मनसार भासान,' भारतचन्द्रका अन्नदामङ्गल, इसी श्रेणीके काव्य हैं। यह सब बंगालके छोटे छोटे गाँवोंके साहित्यको बृहत् साहित्यमें बाँधनेका प्रयत्न है। इस प्रकार एक बड़े रूपमें एक ही जगह अपने प्राणोंको मिलाकर ग्राम-साहित्य, फल बनते ही फूलकी पँखड़ियोंके समान झड़कर गिर जाता है।

पञ्चतंत्र, कथासरित्सागर, इङ्गलैण्डके आर्थरकी कहानी, स्कैण्डिनेवियाका सागा साहित्य आदि इसी प्रकार उत्पन्न हुए हैं। इनके अन्दर लोगोंमें प्रचलित अलग अलग छोटी छोटी बातें एक ही स्थानपर बृहत् आकारमें स्थूल-रूपमें परिणत हो गई हैं।

इस प्रकार अलग अलग बिखरे हुए भावोंका एक बड़े रूपमें बन उठनेका प्रयत्न मानव-साहित्यमें कई स्थानोंमें अत्यन्त आश्चर्यमय विकासको प्राप्त हुआ है। ग्रीसमें होमरका काव्य और भारतवर्षमें रामायण और महाभारत।

इलियड और ओडेसीमें बहुतसी छोटी छोटी कथाएँ क्रमशः आपसमें मिलकर एक हो गई हैं, यह मत मोटे तौर पर प्रायः सर्वत्र ही प्रचलित है। जिस समय लिखी हुई पुस्तकों तथा छपी हुई पुस्तकोंका चलन नहीं था और जिस समय गायक लोग कविताको गाकर सुनाते हुए घूमा करते थे, उस समय नाना मनुष्यों और नाना समयोंके द्वारा कोई काव्य विशाल रूप धारण कर लेगा, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। किन्तु जिस चौखटके अन्दर इन काव्योंको जड़ा गया है, वह एक ही महाकविके द्वारा बनाया हुआ है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। क्योंकि इस चौखटके गठनका अनुसरण करके नए नए जोड़े ऐक्यकी परिधिसे बाहर नहीं निकलने पाए हैं।

मिथिलाके विद्यापतिके गान किस प्रकार बङ्गाली भाषाकी पदावली बन गए; इस बातपर विचार करनेसे मालूम पड़ता है कि स्वाभाविक नियमके अनुसार एक वस्तु किस प्रकार दूसरी बन जाती है। बङ्गाली भाषामें, विद्यापतिकी जो प्रचलित पदावली है, वह विद्यापतिकी नहीं कही जा सकती। मूल कविका प्रायः कुछ भी उसके अधिकांश पदोंमें नहीं मिलता। धीरे धीरे बङ्गाली गायक और बङ्गाली श्रोताओंके द्वारा उसकी भाषामें, उसके अर्थमें, इतना ही क्यों उसके रसमें भी, परिवर्तन हो गया और वह एक नई वस्तु बन गई। ग्रियर्सनने विद्यापतिके जिन मूल पदोंको प्रकाशित किया है, बङ्गाली पदावलीके साथ, उनमेंसे दो चार ही मिलान खाते हैं, अधिकांश भाग नहीं मिलाया जा सकता। फिर भी—भिन्न भिन्न समयों तथा नाना लोगोंके द्वारा परिवर्तन किए जानेपर भी—वे पद असम्बद्ध प्रलापके समान नहीं बन गए हैं। कारण यह है कि उनका मूलस्वर केन्द्रित होकर समस्त परिवर्तनोंको अपना बनानेके लिए सर्वदा सतर्क रहा है। उसी स्वरके कारण ही उन पदोंको हम विद्यापतिके पद कहते हैं और आद्यन्त परिवर्तन हो जानेके कारण उन्हें बंगाली साहित्य कहनेमें सङ्कोच करनेकी आवश्यकता नहीं है।

इससे यह बात अच्छी तरह समझमें आ सकती है कि पहले पहल बहुतसे लोगोंमें जो गान प्रचलित होते हैं वे एक काव्यमें एकत्रित हो जाते हैं और जब वह काव्य सर्वसाधारणके निकट बहुत समय तक गाया जाता है तब फिर उसपर नाना समयोंमें नाना लोगोंका असर पड़ा करता है। वह काव्य देशके चारों ओरसे अपनी पुष्टिके रसको स्वयमेव खींच लेता है। इस प्रकार धीरे धीरे वह समस्त देशकी वस्तु बन जाता है। उसके अन्दर समस्त देशके अन्तःकरणका इतिहास, तत्त्वज्ञान, धर्मबोध और कर्मनीति स्वयं ही सम्मिलित हो जाती है। जो कवि प्रारम्भमें उसकी नींव डालता है, उसकी आश्चर्यमय शक्तिके द्वारा ही यह सम्भावित होता है। वह ऐसे स्थानपर इस प्रकार नींवको डालता है, उसका प्लान (Plan) इतना प्रशस्त होता है कि वह बहुत समय तक समस्त देशको अपने कार्यके अन्दर लगा सकता है। इतने दिनोंतक इतने लोगोंके प्रभावसे वह कुछ भी टेढ़ा बाँका नहीं होता, इस बातको तो हम नहीं कह सकते; किन्तु मूल गठनके माहात्म्यसे वह हमेशा अभिभूत रहता है।

हमारे रामायण और महाभारत, विशेषतया महाभारत इस बातका उदाहरण है।

इस प्रकार समय समयपर एक समग्र जाति जिस काव्यको किसी कविकी कविताकी नींवका सहारा लेकर बनाती है, उसीको यथार्थमें महाकाव्य कहा जाता है।

उसकी हम गङ्गा, ब्रह्मपुत्र आदि नदियोंके साथ तुलना करते हैं। पहले पहल पर्वतकी बहुतसी छुपी हुई गुफाओंमेंसे बहुतसे झरने एक जगह आकर एक बड़ी नदीको बना लेते हैं। उसके बाद जब वह अपने रास्तेपर चल पड़ती है, तो बहुतसे देशोंसे शाखा नदियाँ उसके साथ मिलकर अपने अस्तित्वको खो देती हैं।

किन्तु भारतवर्षकी गङ्गा, मिश्रकी नील और चीनकी यांगसीक्यांग आदि महा नदियाँ संसारमें थोड़ी ही हैं। ये सब नदियाँ माताके समान एक बृहत् देशके एक प्रान्तसे दूसरे प्रान्तका पालन करती हुई प्रवाहित होती हैं। ये प्रत्येक प्राचीन सभ्यताकी दूध पिलाने वाली धात्रियोंके समान हैं।

उसी प्रकार महाकाव्य भी हमारे ज्ञात साहित्यके अन्दर केवल चार ही हैं—इलियड, ओडेसी, रामायण और महाभारत। अलङ्कार शास्त्रके कृत्रिम नियमोंके जोरसे ही रघुवंश, भारवि, माघ या मिल्टनके पैरेडाइज लॉस्ट, वाल्टेयरके हॉरियड आदिको महाकाव्यकी पंक्तिमें जबर्दस्ती बिठाया जाता है। उसके बाद आजकलके छापाखानेके राज्यमें महाकाव्योंके बननेकी सम्भावना तक नष्ट हो गई है।

रामायणके रचे जानेसे पूर्व रामके चरित्रके विषयमें जो सब आदिम पुराण-कथाएँ देशके साधारण लोगोंमें प्रचलित थीं, उनका अब खोज-नेसे भी पता नहीं मिलता; परन्तु उनमें रामायणकी एक पूर्व सूचना सारे देशमें फैली हुई थी, इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं है।

हमारे देशमें जिन जिन वीर पुरुषोंकी अवतारके रूपमें गणना हुई है, उन्होंने संसारकी भलाईके लिए अवश्य ही कोई न कोई असामान्य कार्य किया था। रामायणके बननेसे पहले देशके अन्दर रामचन्द्रके विषयमें उसी प्रकारकी लोकश्रुति अवश्यमेव प्रचलित थी। वे पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिए जङ्गलमें गए थे और उन्होंने अपनी पत्नीको चुराकर ले जानेवालेको मारकर अपनी स्त्रीका उद्धार किया था। यद्यपि इन घटनाओंसे उनके चरित्रकी महत्ता प्रामाणित होती है; किन्तु जिस असा-धारण लोकहितको करके उन्होंने लोगोंके हृदयको जीत लिया था, रामा-यणमें केवल उसका आभास मात्र है।

आर्योंके भारतपर विजय प्राप्त करनेसे पूर्व जिन द्राविड़ जातीय लोगोंने यहाँके आदिम निवासियोंको जीतकर इस देशपर विजय प्राप्त की थी, वे लोग बिलकुल असभ्य नहीं थे। वे आर्योंके द्वारा सुगमतासे पराजित नहीं हुए थे। वे आर्योंके यज्ञोंमें विघ्न डालते थे, उनकी खेतीको नुकसान पहुँचाते थे और कुलपति जङ्गलोंको काटकर जो आश्रम स्थापित करते थे, उन आश्रमोंमें खूब उत्पात करते थे।

दक्षिण प्रान्तके किसी दुर्गमस्थानपर इस द्राविड़ जातीय राजवंशने अत्यंत बलशाली बनकर एक समृद्धिशाली राज्यकी स्थापना की थी। उन्हींके द्वारा भेजी हुई सेनाने जङ्गलोंसे बाहर निकलकर आर्योंके उप-निवेशोंको त्रस्त कर रक्खा था।

रामचन्द्रने वानरोंकी अर्थात् भारतवर्षके आदिम निवासियोंकी सेनाको लेकर बहुत दिनोंकी मेहनत तथा कुशलतासे द्राविड़ जातिके प्रतापको नष्ट कर दिया था, इसी कारण आर्योंके अन्दर उनका यशोगान सर्वत्र फैल गया था। जिस प्रकार शक जातिके उपद्रवसे हिन्दुओंका उद्धार करके राजा विक्रमादित्य यशस्वी हुए थे, उसी प्रकार अनार्योंकी शक्तिको विनष्ट करके जिन्होंने आर्योंको निरुपद्रव कर दिया था, वे भी सर्वसाधारणके निकट अत्यन्त प्रिय तथा पूज्य हो गए थे।

उस समय यही चिन्ता चारों ओर जागरित हो उठी थी कि इन उपद्रवोंको कौन दूर करेगा? विश्वामित्रने छोटी आयुमें ही सुलक्षणोंको देखकर रामचन्द्रको योग्य पात्र निश्चित किया था। किशोर अवस्थासे ही विश्वामित्रके उत्साह तथा शिक्षाके द्वारा प्रेरित होकर रामचन्द्र शत्रुओंके साथ युद्ध करनेके लिए नियुक्त हुए थे। उसी समय जङ्गली गुहके साथ मित्रता करके जिस प्रणालीसे शत्रुको जीतना होगा, उसकी सूचना वे कर रहे थे।

उस समय गौएँ धन और खेती एक पवित्र कार्य समझी जाती थी। राजा जनक अपने हाथोंसे खेती किया करते थे। इस खेतीके हलके द्वारा ही आर्य लोग भारतवर्षकी मट्टीको क्रमशः अपना बना रहे थे। इसी हलके द्वारा जङ्गलोंके स्थानपर कृषिक्षेत्र फैलते जा रहे थे और राक्षस लोग इसीके फैलानेमें विघ्न डाला करते थे।

प्राचीन महापुरुषोंके अन्दर, राजा जनक आर्य सभ्यताके एक धुरन्धर नेता हुए हैं, नाना जनश्रुतियाँ इस बातका समर्थन करती हैं। भारतवर्षके अन्दर कृषिविस्तार करनेके लिए उन्होंने विशेष परिश्रम किया था। उन्होंने अपनी कन्याका नाम भी सीता रक्खा था। उन्होंने यह प्रण किया था कि जो वीर पुरुष धनुष तोड़कर असामान्य बलका परिचय देगा, उसीको मैं अपनी कन्या दूँगा। उन अशान्तिके दिनोंमें एक असामान्य बलिष्ठ पुरुषकी आवश्यकता उन्हें महसूस हो रही थी। प्रबल शत्रुके विरोधमें जो पुरुष खड़ा हो सकेगा, उसके चुननेका एकमात्र यही उपाय था।

विश्वामित्रने रामचन्द्रको अनार्योंके पराजय करनेके व्रतमें दीक्षित करके राजा जनकके परीक्षा-स्थलमें उपस्थित किया और वहाँ रामचन्द्रने

धनुष तोड़कर अपनेको इस व्रतके ग्रहण करनेका श्रेष्ठ अधिकारी सिद्ध कर दिया।

इसके बाद वे छोटे भाई भरतको राज्यभार देकर स्वयं अपनी महान् प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिए जङ्गलको चले गए। भरद्वाज, अगस्त्य आदि जो जो ऋषि दुर्गम दक्षिण प्रान्तमें आर्योंके उपनिवेश बनानेमें लगे हुए थे, उन सबका उपदेश लेकर अपने छोटे भाई लक्ष्मणके साथ वे अपरिचित गहन अरण्योंके अन्दर अदृश्य हो गए।

वहाँ वाली और सुग्रीव नामक दो प्रतिद्वन्द्वी भाईयोंके बीचमेंसे एकको मारकर दूसरे भाईको उन्होंने अपने दलमें मिला लिया, वानरोंको अपने काबूमें कर लिया और उन्हें युद्धविद्या सिखाकर अपनी सेना बना ली। उसी सेनाको लेकर और कुशलतापूर्वक शत्रुओंके अन्दर फूट डालकर उन्होंने लङ्कापुरीको तहस नहस कर दिया। ये राक्षस लोग स्थापत्य विद्यामें अत्यन्त दक्ष थे। युधिष्ठिरने जिस अद्भुत प्रासादको बनवाया था, उसको बनानेवाला मय राक्षस ही था। मन्दिरोंके बनानेमें द्राविड़ लोगोंका कौशल आज तक भी अच्छा समझा जाता है। कई लोग जो इन्हें पुराने इजिप्तवालोंका सजातीय कहते हैं, सो बिलकुल असंगत नहीं जान पड़ता है।

जो कुछ भी हो, सोनेकी लङ्का, यह प्रवाद जिस कारण लोगोंमें प्रचलित हुआ था, उसका कुछ न कुछ आधार अवश्य था। ये राक्षस लोग असभ्य नहीं थे; किन्तु शिल्पकलामें तो आर्योंकी अपेक्षा भी अधिक कुशल थे।

रामचन्द्रने शत्रुओंको जीत तो लिया; किन्तु उनके राज्यको नहीं छीना। विभीषण उनका मित्र बनकर लङ्कामें राज्य करने लगा। किष्किन्धाका राज्य वानरोंको देकर उन्होंने उनको हमेशाके लिए अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार रामचन्द्रने आर्योंके साथ अनार्योंका सम्मिलन करके आपसमें आदान-प्रदानके सम्बन्धको स्थापित कर दिया। यह उसीका परिणाम था कि द्राविड़ लोग धीरे धीरे आर्योंके समाजमें मिल गए और इस प्रकार हिन्दू-जातिकी रचना हुई। इस हिन्दू-जातिके अन्दर दोनों जातियोंके आचार-विचार, पूजा-पद्धति आदि सब कुछ मिल गया और भारतवर्षमें शान्ति स्थापित हो गई।

धीरे धीरे जब आर्यों और अनार्योंका मिलन पूर्ण विकासको प्राप्त हो गया, आपसमें धर्म और विद्याका विनिमय हो गया, तब रामचन्द्रकी पुरानी कहानी हर जगह भिन्न भिन्न भाव और आकार धारण करने लगी। यदि किसी दिन भारतवासियोंका अँग्रेजोंके साथ सम्पूर्ण मिलन हो, तो क्या क्लाइवकी कीर्तिके विशेष आडम्बर करनेकी कोई आवश्यकता रहेगी? या गदरके समयके उटराम आदि योद्धाओंकी कहानियोंको विशेषतया स्मरणीय बनानेकी कोई स्वाभाविक उत्तेजना रह सकेगी?

जिस कविने देशमें प्रचलित चरित्रकी कहानियोंको महाकाव्यके अन्दर ग्रथित किया, उन्होंने इस अनार्योंको वशमें करनेवाली घटनाको प्रधानता नहीं दी और उस महान् चरित्रके सम्पूर्ण आदर्शको बड़े रूपमें बना दिया। उन्होंने बनाया, सम्भवतः यह कहना ठीक नहीं है। रामचन्द्रकी पूजनीय स्मृति क्रमशः दूसरे समयों और दूसरी अवस्थाओंके द्वारा अपनी पूजनीयताको सर्वसाधारणकी भक्तिके लिए उपयोगी बना रही थी, कविने अपनी प्रतिभाके द्वारा उसको एक स्थानपर एकत्रित करके सुस्पष्ट कर दिया। उस समय सर्व साधारणकी भक्ति चरितार्थ हो गई।

किन्तु आदि कविने उसे जिस स्थानपर खड़ा किया था, उसके बाद वह उसी स्थानपर स्थिर रही है, यह बात नहीं है।

रामायणके आदि कवि वाल्मीकिने गार्हस्थ्य-प्रधान हिन्दू-समाजका जो कुछ धर्म है, रामचन्द्रको उसीका अवतार बनाकर दिखाया है। पुत्ररूपमें, भ्रातृरूपमें, पतिरूपमें, मित्ररूपमें, ब्राह्मणधर्मके रक्षकके रूपमें और अन्तमें राजाके रूपमें वाल्मीकिके रामने अपनी लोकपूज्यताको प्रमाणित कर दिया है। उन्होंने एकमात्र अपनी धर्मपत्नीके उद्धारके लिए ही रावणको मारा और प्रजारञ्जनके अनुरोधके कारण ही उन्होंने अन्तमें अपनी पत्नीका परित्याग कर दिया। अपनी समग्र सहजप्रवृत्तियोंको शास्त्रके अनुसार जीत कर समाजरक्षाके आदर्शको उन्होंने क्रियात्मक रूपमें परिणत करके दिखा दिया। हमारी स्थिति-प्रधान सभ्यतामें कदम कदमपर जिस त्याग, क्षमा और आत्मनिग्रहकी आवश्यकता होती है, रामचन्द्रके चरित्रमें उसीके

विकासको प्राप्त होनेके कारण रामायण हिन्दूसमाजका महाकाव्य बन गया है।

आदि कविने जब रामायणको लिखा था, तब यद्यपि रामके चरित्रमें अतिप्राकृत देव अंश मिल चुका था, तो भी वाल्मीकिने मनुष्यके आदर्शरूपमें ही उनको चित्रित किया था।

किन्तु यदि अतिप्राकृतको थोड़ासा भी स्थान मिल जाय, तो फिर उसको रोका नहीं जा सकता, वह क्रमशः बढ़ता ही जाता है। इस प्रकार रामने धीरे धीरे देवताकी पदवीको प्राप्त कर लिया।

उस समय रामायणके मूल स्वरमें एक और परिवर्तन हुआ। कृत्तिवासकी रामायणमें (और हिन्दीमें तुलसीके राम-चरित-मानसमें भी) उसीका परिचय मिलता है।

रामको जब हम देवता कहते हैं, तब उन्होंने जो समस्त कार्य किए थे, उनकी दुःसाध्यता चली जाती है। इसलिए रामके चरित्रको यशस्वी बनानेके लिए, उन्हींका वर्णन पर्याप्त नहीं होता। ऐसी अवस्थामें जिन भावोंके द्वारा देखनेसे देवचरित्र मनुष्यके निकट प्रिय हो जाता है, वे भाव ही काव्यमें प्रबल हो जाते हैं।

वह भाव भक्तवत्सलता है। कृत्तिवासके (और तुलसीके भी) राम भक्तवत्सल राम हैं। वे अधम-पापी सबका ही उद्धार करते हैं। वे चाण्डाल गुहकको मित्र कहकर आलिङ्गन करते हैं। वनके पशु वानरोंको वे प्रेमके द्वारा धन्य कर देते हैं। भक्त हनुमान्‌के जीवनको भक्तिसे सींच कर उसके जीवनको सार्थक कर देते हैं। बिभीषण उनका भक्त है। रावण भी शत्रु होनेके कारण उनके द्वारा मारा जाकर मुक्तिको प्राप्त करता है। यह रामायणमें भक्तिकी ही लीला है।

भारतवर्षमें एक बार सर्वसाधारणके बीचमें यह लहर उठी थी। एक मात्र ज्ञानियोंको ही ईश्वरकी प्राप्ति नहीं होती और उसको प्राप्त करनेके लिए तंत्र मंत्र और विशेष तरीकोंकी जरूरत नहीं है; केवल सरल भक्तिके द्वारा नीच चाण्डाल पर्यन्त सब ही भगवान्‌को प्राप्त कर सकते हैं। मानों इस बातने एकदम नए आविष्कारके समान आकर भारतवर्षके

लोगोंको दुस्सह हीनताके भारसे मुक्त कर दिया था। यह महान् आनन्द जब समस्त देशमें व्याप्त हो उठा था, तब जिस साहित्यका प्रादुर्भाव हुआ था, वह जनसाधारणके इस नए गौरव लाभका साहित्य है। कालकेतु, धनपति, चाँदसौदागर आदि साधारण लोग ही इसके नायक थे;—ब्राह्मण-क्षत्रिय और मानी ज्ञानी साधकोंका ही नहीं अपितु समाजमें जो लोग पतित, नीच समझे जाते हैं, देवता उनका भी देवता है, साहित्य इसी बातका नानाप्रकारसे प्रचार कर रहा था। कृत्तिवासकी रामायणमें भी इसी भावको व्यक्त किया गया है। भगवान् शास्त्रज्ञानहीन, अनाचारी वानरोंका भी मित्र है, गिलहरी आदिकी अति सामान्य सेवा भी उसके निकट अग्राह्य नहीं होती, पापिष्ठ राक्षसोंको भी वह यथोचित दण्ड देकर मुक्ति प्रदान करता है; ये भाव ही कृत्तिवासमें प्रबल होकर भारतवर्षमें रामायणकी कथाकी धाराको गङ्गाकी शाखा भागीरथीके समान एक विशेष मार्गकी ओर ले गए हैं।

रामायणकी कथाकी जिस धाराका हम अनुसरण करते आ रहे हैं, उसीकी एक अत्यन्त आधुनिक शाखा मेघनादबध-काव्यमें दृष्टिगोचर होती है। इस काव्यने उसी पुरानी कथाका अवलम्बन करके भी वाल्मीकि और कृत्तिवाससे एक विपरीत प्रकृतिको धारण किया है।

हम बहुधा कहा करते हैं कि अँग्रेजी पढ़कर हम जिस साहित्यकी रचना कर रहे हैं, वह शुद्ध वस्तु नहीं है—अतएव मानों वह साहित्य देशके साहित्यके नामसे भी कहा जानेके योग्य नहीं है!

परन्तु जिस वस्तुने किसी प्रकारकी एक स्थायी विशेषताको प्राप्त कर लिया है और उसमें अब किसी और परिवर्तनकी सम्भावना नहीं है, उसीको यदि हम शुद्ध वस्तु कहें, तो सजीव प्रकृतिके अन्दर ऐसी वस्तु कहीं भी नहीं मिल सकती।

मनुष्य-समाजमें भावोंके साथ भावोंका मेल होता है, और उस मेलके द्वारा नई नई विचित्रताओंकी सृष्टि हुआ करती है। भारतवर्षमें इस प्रकार कितने भावोंका मेल हुआ है और हमारा मन कितने परिवर्तनोंके बीचमेंसे प्रवाहित हुआ है, इसकी क्या कोई सीमा है? थोड़े ही दिन हुए जब कि

मुसलमान हमारे देशके राजसिंहासनपर चढ़ बैठे थे। क्या उन्होंने हमारे मनपर कोई असर नहीं छोड़ा? क्या उनके सेमेटिक-भावोंके साथ हिन्दू भावोंका स्वाभाविक सम्मिश्रण नहीं हुआ? हमारे शिल्प-साहित्य, वेश-भूषा, राग-रागिणी और धर्म-कर्मके बीचमें मुसलमानोंकी सामग्री मिल गई है। मनके साथ मनका इस प्रकार मेल न हो, यह नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो कि केवल हमारे अन्दर ही ऐसा होना सम्भावित नहीं है, तो यह हमारे लिए नितान्त लज्जाजनक बात है।

युरोपसे एक भावका प्रवाह आ रहा है और वह स्वभावतः ही हमारे मनपर आघात कर रहा है। इस घात-प्रतिघातसे हमारा मन जाग्रत् हो रहा है, इस बातको यदि हम स्वीकार नहीं करेंगे, तो हम अपनी ही चित्त-वृत्तिके साथ अन्याय करेंगे। इस प्रकार भावोंके मेलसे जो वस्तु उत्पन्न हो रही है, कुछ समय बाद उसके स्वरूपको हम स्पष्टतया देख सकेंगे।

युरोपसे नए भावोंका घात-प्रतिघात आकर हमारे हृदयको जाग्रत् कर रहा है, यदि यह बात सत्य है तो हम शुद्ध होनेकी चाहे हजार चेष्टा क्यों न न करें, हमारा साहित्य नए स्वरूपको धारण करके इस सत्यको प्रकाशित न करे, यह नहीं हो सकता। ठीक उसी पुरानी वस्तुकी पुनरावृत्ति अब किसी प्रकार नहीं हो सकती और यदि हो, तो हम उस साहित्यको मिथ्या और कृत्रिम कहेंगे।

मेघनाद-वध काव्यकी केवल छन्दरचना और रचनाप्रणालीमें ही नहीं, किन्तु उसके आन्तरिक भाव और रसके अन्दर भी एक अपूर्व परिवर्तन देखा जाता है। यह परिवर्तन अपनेको भूला हुआ नहीं है। इसमें एक तरहका विद्रोह है। कविने तुकबन्दीकी बेड़ीको तोड़ डाला है और बहुत दिनोंसे रामायणके विषयमें जो हमारे दिलके अन्दर एक भावश्रृंखला चली आ रही थी, कविने उद्दण्डतासे उसके बन्धनको भी तोड़ डाला है। इस काव्यमें राम और लक्ष्मणकी अपेक्षा रावण और इन्द्रजितको बड़े रूपमें दिखाया गया है। जो धर्मभीरुता हमेशा कौनसी वस्तु कितनी अच्छी और कितनी बुरी है, इसीका एक मात्र सूक्ष्मतया विचार किया करती है, उसका त्याग, दीनता और आत्मनिग्रह इस कविके हृदयको आकर्षित नहीं कर सके हैं। वह स्वतःस्फूर्त शक्तिकी उद्दाम लीलाके अन्दर ही प्रसन्नताको

अनुभव करता है । इस शक्तिके चारों ओर प्रभूत ऐश्वर्य है; इस महलोंके शिखरोंने बादलोंके रास्तेको रोक लिया है; इसके रथ, रथी, घोड़ों और हाथियोंसे पृथ्वी काँप उठी है, इसने अपने बलसे देवताओंको पराजित करके वायु, अग्नि और इन्द्रको अपना दास बना लिया है; यह शक्ति किसी भी शास्त्र या अस्त्र या किसी अन्य रुकावटको माननेके लिए तैयार नहीं है । इतने दिनोंका सञ्चित अभ्रभेदी ऐश्वर्य चारों ओर टूट फूट कर धूलिसात् हो रहा है, सामान्य भिखारी राघवके साथ युद्ध करनेमें उसके अपने प्राणोंकी अपेक्षा भी प्रिय पुत्र, पौत्र तथा अन्य सम्बन्धी सभी एक एक करके मर रहे हैं, उनकी माताएँ धिक्कार देकर रो रही हैं, तो भी जो अटल शक्ति भयङ्कर सर्वनाशके बीचमें बैठकर भी किसी प्रकार हार नहीं मानना चाहती, कविने उसी धर्मविद्रोही महादम्भके पराभवपर समुद्रतटके श्मशानमें दीर्घ निश्वास फेंककर काव्यका उपसंहार किया है । जो शक्ति सब चीजोंको अत्यन्त सावधानीसे मानकर चलती है, मानों उसका मन-ही-मन तिरस्कार करके, जो शक्ति उद्दण्डतापूर्वक किसी चीजको भी कुछ भी नहीं मानना चाहती, बिदाईके अवसरपर काव्य-लक्ष्मीने अपनी आँसुओंसे भींगी हुई मालाको उसीके गलेमें पहना दिया है ।

युरोपकी शक्ति अपने विचित्र शस्त्रों और अपूर्व ऐश्वर्यकी पार्थिव महिमाकी चोटीपर खड़ी होकर हमारे सम्मुख आविर्भूत हुई है । इसका विद्युत्-खचित वज्र हमारे नत मस्तकोंके ऊपरसे जोरसे गर्जना करता हुआ जारहा है । इसी शक्तिके स्तवगानके साथ वर्तमान समयमें रामायणकी कथाका एक नया तार अन्दर ही अन्दर बज उठा । यह क्या किसी व्यक्ति विशेषके कारण हुआ ? समस्त देशमें इसका आयोजन चल रहा है । चाहे दुर्बल होनेके कारण हम इसे मान नहीं रहे हैं, तो भी कदम कदमपर हमें इसको माननेके लिए विवश होना पड़ता है । इसी कारण रामायणके अन्दर भी हम इसके स्वरको रोक नहीं सके हैं ।

रामायणकी कथाका दृष्टान्त देकर हमने यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि मनुष्यके साहित्यमें जो एक भावोंकी सृष्टि हो रही है, उसकी स्थिति और गतिका क्षेत्र अत्यन्त विशाल है । वह देखनेमें अत्यन्त आकस्मिक मालूम पड़ती है । चैत्र मासमें यह जो इतने ज़ोरसे इतनी अधिक वृष्टि

हो गई, वह भी तो हमें आकस्मिक प्रतीत होती है। किन्तु कितनी दूर पश्चिमसे कारण-परम्पराओंद्वारा वाहित होकर, कहीं विशेष सुभीता तथा कहीं विशेष रुकावट पाकर इस वृष्टिने हमारे खेतोंको सींच दिया। भावका प्रवाह भी इसी प्रकार प्रवाहित हो रहा है। वह छोटे बड़े कितने कारणोंके द्वारा खण्डसे एक और एकसे शतधा होकर व्याप्त हो रहा है। सम्मिलित मनुष्योंका बृहत् मन, मनके निगूढ़ और अमोघ नियमोंके द्वारा अपनेको सम्पूर्णतया प्रकाशित करके अपरूप मानस सृष्टिका समस्त पृथिवीमें विस्तार कर रहा है।

जब हम लेखकको अत्यन्त निकट होकर प्रत्यक्ष रूपसे देखते हैं, तब लेखकके साथ उसकी रचनाका, लिखनेका सम्बन्ध ही हमारे निकट प्रबल हो जाता है। तब हम समझते हैं कि मानों गङ्गोत्री ही गङ्गाकी सृष्टि कर रही है। इसी कारण संसारके समस्त काव्योंका लेखक कौन है, उसका मानों कोई पता ही नहीं लगता। जो समस्त काव्य अपनी सृष्टि मानों स्वयं ही कर रहे हैं और जिनका सूत्र कहींपर भी नहीं टूटता, उन्हींके दृष्टान्तको दिखाकर हमने भाव-सृष्टिकी विशाल स्वाभाविकताकी ओर आपके मनको आकर्षित करनेका प्रयत्न किया है।

ऐतिहासिक उपन्यास

मानव-समाजका वह बाल्यकाल कहाँ गया, जब प्रकृत और अप्रकृत, घटना और कल्पना कई भाई-बहनोंके समान एक परिवारमें एक साथ खेलती हुई बड़ी हुई थीं। अब उनके अन्दर इतना बड़ा गृह-विच्छेद हो जाएगा, यह स्वप्नमें भी कोई नहीं जानता था।

किसी समय रामायण और महाभारत इतिहास थे; किन्तु आधुनिक इतिहास उसकी कुटुम्बिताको स्वीकार करनेमें अत्यन्त सङ्कोच करता है। वह कहता है कि काव्यके साथ परिणीत हो जानेसे उसका (इतिहासका) कुल नष्ट हो गया है। अब उसके कुलका उद्धार करना इतना कठिन हो गया है कि इतिहास काव्यके रूपमें ही उसका परिचय कराना चाहता है। काव्य कहता है—भाई इतिहास, तुम्हारे अन्दर भी बहुत कुछ मिथ्या है और मेरे अन्दर भी बहुतसी सचाइयाँ हैं, अत एव हम दोनों पहलेके समान मेल-मिलाप कर लें। इतिहास कहता है कि ना भाई, अपने अपने हिस्सेका बँटवारा कर लेना ही अच्छा है। ज्ञान नामक अमीनने * सर्वत्र इस बँटवारेके कार्यको प्रारम्भ कर दिया है। सत्यके राज्य और कल्पनाके राज्यमें एक स्पष्ट भेदकी रेखाको खींचनेके लिए उसने कमर बाँध ली है।

इतिहासकी सीमाका व्यतिक्रम करनेके अपराधमें ऐतिहासिक उपन्यासों-के विरुद्ध जो नालिश की गई है, उसके द्वारा साहित्य-परिवारका यह गृह-विच्छेद प्रामाणित होता है।

---

* जमीनके सीमासम्बन्धी झगड़े और दीवानी मुकद्दमे निबटानेवाले सरकारी कर्मचारी 'अमीन' कहलाते हैं।

इस प्रकारकी नालिश केवल हमारे ही देशमें नहीं की गई है; केवल नवीन बाबू और बङ्किम बाबू ही अपराधी नहीं ठहराए गए हैं; किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास-लेखकोंके आदि और आदर्श स्कॉट भी इससे छुटकारा नहीं पा सके हैं।

आधुनिक अँग्रेज ऐतिहासिकोंमें फ़्रीमैन साहबका नाम बहुत प्रसिद्ध है। उपन्यासोंके अन्दर इतिहासकी जो विकृति हो जाती है, उसपर उन्होंने अपना क्रोध प्रकट किया है। वे कहते हैं कि जो लोग यूरोपके धर्मयुद्ध-यात्रा-युग (The age of the crusades) के विषयमें कुछ भी जानना चाहते हैं, उन्हें स्कॉटके 'आइवनहो'को नहीं पढ़ना चाहिए।

निस्सन्देह, युरोपके धर्मयुद्ध-यात्रा-युगके सम्बन्धमें हमें वास्तविक सचाईका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए; किन्तु स्कॉटके 'आइवनहो'के अन्दर चिरन्तन मानव-समाजका जो नित्य सत्य है, उसका जानना भी हमारे लिए आवश्यक है। इतना ही नहीं किन्तु उसके जाननेकी आकांक्षा इतनी प्रबल होती है कि यह जानते हुए भी कि क्रूसेड-युगके सम्बन्धमें इसमें बहुत सी भूलें हैं, छात्रगण अध्यापक फ़्रीमैनसे छुपाकर आइवन-होके पढ़नेके प्रलोभनको नहीं रोक सकते हैं।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि इतिहासके विशेष सत्य और साहि-त्यके नित्य सत्य दोनोंकी रक्षा करके क्या स्कॉट महाशय 'आइवनहो'को नहीं लिख सकते थे?

वे लिख सकते थे या नहीं, इस बातको निश्चयपूर्वक कहना तो कठिन है; किन्तु हम देखते हैं कि उन्होंने यह कार्य किया नहीं है।

यह हो सकता है कि उन्होंने जान-बूझकर यह कार्य न किया हो, सो बात न हो। अध्यापक फ़्रीमैन क्रूसेड-युगके सम्बन्धमें जितना जानते थे, उतना स्कॉट नहीं जानते थे। स्कॉटके समय प्रमाणोंका विश्लेषण और ऐतिहासिक सचाइयोंका अनुशीलन इतनी दूर तक अग्रसर नहीं हुआ था।

प्रतिवादी कहेंगे कि जब वे लिखनेको बैठे थे, तो अच्छी तरह जानकर ही लिखना उचित था।

किन्तु इस जाननेका अन्त कब होगा? हम निश्चयपूर्वक कब जान सकेंगे कि क्रूसेडके विषयमें समस्त प्रमाण समाप्त हो गए हैं? हम यह किस प्रकार जान सकेंगे कि आज जिसको हम ऐतिहासिक ध्रुव सत्य कह रहे हैं, कल नूतनाविष्कृत युक्तियोंके ज़ोरसे उसे ऐतिहासिक सिंहासन-परसे विच्युत नहीं होना पड़ेगा? आजके प्रचलित इतिहासका सहारा लेकर जो ऐतिहासिक उपन्यास लिखेंगे, कलके नूतन इतिहासवेत्ता यदि उनकी निन्दा करेंगे, तो हम इसका क्या उत्तर देंगे?

प्रतिवादी कहेंगे कि इसीलिए हम कहते हैं कि जितनी इच्छा हो उपन्यास लिखो; किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास मत लिखो। यद्यपि इस तरहकी बात आज हमारे देशमें नहीं उठी है; किन्तु अँग्रेजी साहित्यमें सम्प्रति इसका आभास मिल रहा है। सर फ्रांसिस पॉलग्रेव कहते हैं कि ऐतिहासिक उपन्यास एक ओर इतिहासका शत्रु है और दूसरी ओर कहानीका भी बड़ा दुश्मन है। अर्थात् उपन्यास-लेखक कहानीकी खातिर इतिहास-पर आघात करते हैं और वह आहत इतिहास कहानीका नाश कर देता है, इस प्रकार बेचारी कहानीके श्वशुर-कुल और पितृ-कुल दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

इस प्रकारकी विपत्तिके होते हुए भी ऐतिहासिक काव्य और उपन्यास साहित्यमें क्यों स्थान प्राप्त करते हैं? इसका जो कारण है, इस लेखमें हम उसीको स्पष्ट करनेका प्रयत्न करते हैं।

हमारे अलङ्कार ग्रन्थोंमें काव्यका लक्षण 'रसात्मक वाक्य' निर्देश किया गया है। इसकी अपेक्षा संक्षिप्त और व्यापक लक्षण हमने और किसी जगहपर नहीं देखा है। निस्सन्देह रस किसको कहते हैं, इसको समझानेका कोई उपाय नहीं है। जिस व्यक्तिमें आस्वादन शक्ति है, उसके लिए रस शब्दकी व्याख्या अनावश्यक है और जिसके अन्दर वह शक्ति नहीं, उसको इन बातोंके जाननेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है।

हमारे अलङ्कार-शास्त्रमें नौ मूल रसोंका उल्लेख किया गया है; किन्तु बहुतसे अनिर्वचनीय मिश्र रस भी हैं, जिनके उल्लेख करनेका प्रयत्न नहीं किया गया।

इन्हीं समस्त अनिर्दिष्ट रसोंके अन्दर एकका नाम 'ऐतिहासिक रस' रक्खा जा सकता है और यह रस महाकाव्योंका प्राणस्वरूप होता है।

व्यक्तिविशेषका सुख-दुःख उसके निजके लिए कम नहीं है, संसारकी बड़ी बड़ी घटनाएँ उसके सामने छाया सी प्रतीत होती हैं। इस प्रकार यदि व्यक्तिविशेष अथवा कुछ व्यक्तियोंके जीवनके उत्थान-पतन या घात-प्रतिघातको उपन्यासमें ठीक उसी प्रकार वर्णन किया जाय, तो रसकी तीव्रता बढ़ जाती है और यह रसावेश लोगोंके अत्यन्त निकट आकर आक्रमण करता है। हम लोगोंमेंसे अधिकांशके सुख-दुःखोंकी परिधि सीमाबद्ध है; हमारे जीवनकी तरङ्गोंका क्षोभ कुछ आत्मीय बन्धु-बान्धवोंके अन्दर ही समाप्त हो जाता है। विषवृक्षमें नगेन्द्र, सूर्यमुखी और कुन्दनन्दिनीकी विपत्ति, सम्पत्ति, हर्ष और विषादको हम अपना ही समझ सकते हैं, क्योंकि उन समस्त सुख-दुःखोंका केन्द्रस्थल नगेन्द्रकी परिवार-मण्डली ही है। नगेन्द्रको अपना पड़ोसी समझनेमें हमें कोई रुकावट नहीं होती।

किन्तु पृथ्वीमें इस प्रकारके बहुत ही थोड़े लोगोंका अभ्युदय होता है, जिनके सुख-दुःख संसारकी बृहत् घटनाओंके साथ बँधे हुए होते हैं। राज्योंका उत्थान-पतन, महाकालकी भविष्यकी कार्यपरम्परा जो कि समुद्रके गर्जनके सहित उठती और गिरा करती है, इसी महान् कल-सङ्गीतके स्वरमें उनका वैयक्तिक विराग अनुराग बजा करता है। उनकी कहानी जब गीत बन जाती है, तब रुद्रवीणाके एक तारमें मूल रागिणी बजती है और बजानेवालेकी शेष चार अँगुलियाँ पिछले मोटे पतले सब तारोंमें निरन्तर एक विचित्र, गम्भीर और बहुत दूर तक फैलनेवाली झङ्कारको जाग्रत् कर देती हैं।

मनुष्यके साथ कालकी यह गति हमें प्रतिदिन दिखाई नहीं देती। यदि इस प्रकारका जातिके इतिहासको बनानेवाला कोई महापुरुष हमारे सम्मुख विद्यमान हो, तो भी छोटेसे वर्तमान कालके अन्दर वह और वह बृहत् इतिहास एक साथ हमारे दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। इसलिए सुयोगके होते हुए भी इस प्रकारके व्यक्तियोंको हम कभी ठीक तरहसे उनकी यथार्थ प्रतिष्ठाभूमिपर उपयुक्त भावसे नहीं देख सकते। उनको यदि हम

एक मात्र व्यक्तिविशेषके रूपमें नहीं, परन्तु महाकालके एक अङ्कके रूपमें देखना चाहें, तो उनसे दूर खड़ा होना पड़ता है—अतीतके अन्दर उनकी स्थापना करनी पड़ती है; वे जिस महान् रङ्गभूमिके नायक थे उसको और उनको मिलाकर देखना पड़ता है।

हमारा अपने प्रतिदिनके साधारण सुख-दुःखसे दूर हो जाना, अर्थात् हम जब नौकरी करके रो-गाकर खा-पीकर समय बिता रहे हैं उस समय संसारके राजपथपरसे जो बड़े बड़े सारथी काल-रथको चलाते हुए जा रहे हैं, उनकी क्षणकालके लिए उपलब्धि करके क्षुद्र परिधिसे मुक्ति प्राप्त कर लेना, यही इतिहासका वास्तविक रसास्वाद है।

यह बात नहीं है कि इस तरहकी घटनाएँ आद्यन्त कल्पनाके द्वारा नहीं बनाई जा सकतीं; किन्तु जो स्वभावतः ही हमसे दूरस्थ है, जो हमारी अभिज्ञतासे बाहर है, उसे किसी बहानेसे यदि हम प्रकृत घटनाके साथ मिला दें, तो लेखकोंके लिए पाठकोंके हृदयमें विश्वास उत्पन्न करना सुगम हो जाता है। रसकी सृष्टि ही उद्देश्य है, अत एव उसको उत्पन्न करनेके लिए ऐतिहासिक उपकरणोंकी जिस मात्रामें आवश्यकता होती है, कवि लोग उतनी ले लेनेमें किसी प्रकारका सङ्कोच नहीं करते।

शेक्सपिअरके 'एण्टानी और क्लियोपेट्रा' नाटकका जो मूल व्यापार है, वह संसारके लिए एक प्रतिदिनका परीक्षित और परिचित सत्य है। बहुतसे अप्रसिद्ध, अज्ञात और सुयोग्य पुरुषोंने मुग्धकारिणी नारी-मायाके जालमें अपने इहलोक और परलोकको बिगाड़ लिया है। इस प्रकारके क्षुद्र महत्त्व और मनुष्यत्वके शोचनीय भग्नावशेषोंसे संसारका रास्ता भरा हुआ है।

हमारे लिए सुप्रत्यक्ष नर और नारीकी विष तथा अमृतमयी प्रणय-लीलाको कविने एक विशाल ऐतिहासिक रङ्गभूमिके अन्दर स्थापित करके उसे विराट् बना दिया है। हृदयके विप्लवके पश्चात् राष्ट्र-विप्लव उमड़ता है। प्रेम-द्वन्द्वके साथ, एक बन्धनके द्वारा बद्ध रोममें परस्पर फूट डालनेवाले प्रचण्ड युद्धकी तैयारी होती है। एक ओर क्लियोपेट्राके विलास-भवनमें वीणा बज रही है और दूसरी ओर दूर समुद्रके किनारेसे भैरवकी संहारकी भेरी उसके साथ स्वर मिलाकर और भी जोरसे बज उठती है। कविने

आदि और करुण रसके साथ ऐतिहासिक रसको मिला दिया है, इसलिए उसमें एक चित्तको विस्मयमें डालनेवाली दूरता और बृहत्ता मिल गई है।

इतिहासवेत्ता मम्सेन यदि शेक्सपिअरके इस नाटकपर प्रमाणोंका तीक्ष्ण प्रकाश डालें, तो संभवतः इसमें बहुतसे काल-विरोध दोष (Anachronism) और ऐतिहासिक गलतियाँ दिख सकती हैं; किन्तु शेक्सपिअरने पाठकोंके मनपर जो जादू कर दिया है, भ्रान्त और विकृत इतिहासके द्वारा भी जिस ऐतिहासिक रसकी अवतारणा की है, वह इतिहासके नए नए सत्योंके आविष्कृत होनेपर भी नष्ट नहीं होगी।

इसीलिए इससे पहले हमने किसी समालोचनामें लिखा था—"उपन्यासके अन्दर इतिहासके मिल जानेसे जो एक विशेष रस सञ्चारित हो जाता है, उपन्यासकार एक मात्र उसी ऐतिहासिक रसके लालची होते हैं; उसके सत्यकी उन्हें कोई विशेष परवाह नहीं होती। यदि कोई व्यक्ति उपन्यासमें इतिहासकी उस विशेष गन्ध और स्वादसे ही एक मात्र सन्तुष्ट न हो और उसमेंसे अखण्ड इतिहासको निकालने लगे, तो वह शाकके बीचमें साबित जीरे, धनिये, हल्दी और सरसों ढूँढ़ेगा। मसालेको साबित रख कर जो व्यक्ति शाकको स्वादिष्ट बना सकते हैं, वे बनाएँ और जो उसे पीसकर एकसम कर देते हैं, उनके साथ भी हमारा कुछ झगड़ा नहीं। क्योंकि यहाँ स्वाद ही लक्ष्य है, मसाला तो उपलक्ष्य मात्र है।"

अर्थात् लेखक चाहे इतिहासको अखण्ड रखकर रचना करें या तोड़फोड़कर, यदि वे ऐतिहासक रसकी अवतारणा कर सकें, तो उन्हें अपने उद्देश्यमें कृतकार्य समझना चाहिए।

इसलिए यदि कोई रामचन्द्रको नीच और रावणको साधुके रूपमें चित्रित करे, तो क्या कोई दोष न होगा? दोष होगा; किन्तु वह दोष इतिहासके पक्षमें नहीं होगा, काव्यके पक्षमें ही होगा। सर्वजनविदित सत्यको एकदम उलटा कर देनेसे रसभङ्ग हो जाता है; मानों पाठकोंके सिरपर एकदम लाठी पड़ जाती है। उसकी एक ही चोटसे काव्य एकदम चित होकर गिर जाता है।

इतना ही क्यों, यदि किसी झूठी बातको भी देरसे सर्वसाधारण लोग सत्य मानते हुए चले आ रहे हों और यदि इतिहास और सचाईके लिए

काव्य इसके विरोधमें हस्तक्षेप करे, तो यह काव्यका दोष होगा। कल्पना कीजिए कि यदि आज बिना किसी सन्देहके यह सिद्ध हो जाय कि मदिरासक्त अनाचारी यदुवंश ग्रीक-जातीय था और श्रीकृष्ण स्वाधीनतापूर्वक बनोंमें घूमने और बाँसुरीको बजानेवाला ग्रीसका एक ग्वाला था, यदि यह सिद्ध हो जाय कि उसका रंग उसके बड़े भाई बलदेवके रंगके समान गोरा था, यदि यह प्रमाणित हो जाय कि निर्वासित अर्जुन एशिया माइनरके किसी ग्रीक-राज्यसे यूनानी राजकन्या सुभद्राको हर कर लाया था और द्वारका समुद्रतटवर्ती एक ग्रीक उपद्वीप था, यदि यह प्रामाणित हो जाय कि निर्वासनके समय पाण्डवोंने रणके विज्ञानको विशेष तौरपर जाननेवाले, प्रतिभाशाली ग्रीसीय वीर कृष्णकी सहायतासे अपने राज्यका उद्धार किया था और उसकी अपूर्व, विजातीय राजनीति, युद्धनैपुण्य और कर्मप्रधान धर्मतत्त्वसे विस्मित होकर भारतवर्षने उसको अवतार मान लिया था, तो भी वेदव्यासका महाभारत विलुप्त नहीं होगा और कोई नवीन कवि साहसपूर्वक कालेको गोरा नहीं बना सकेगा।

हमने ये बातें मामूली तौरपर कही हैं। नवीन बाबू और बङ्किम बाबू अपने काव्य और उपन्यासोंमें प्रचलित इतिहासके विरुद्ध इतनी दूर तक गए हैं या नहीं, जिससे कि काव्य-रस नष्ट हो गया है—इसका विचार उनके ग्रन्थोंकी विशेष आलोचनाके समय ही किया जा सकता है।

ऐसे समय हमारा क्या कर्त्तव्य है? हमें इतिहासको पढ़ना चाहिए या 'आइवनहो'को पढ़ना चाहिए? इसका उत्तर अत्यन्त सुगम है। दोनोंको पढ़ना चाहिए। सत्यके लिए इतिहासको पढ़ना चाहिए और आनन्दके लिए 'आइवनहो' को पढ़ना चाहिए। कहीं हम भूलोंका ही ज्ञान न प्राप्त कर लें, इस प्रकारकी सतर्कतासे जो व्यक्ति काव्य-रससे अपने आपको वञ्चित रक्खेंगे, उनका स्वभाव सूखकर काँटा हो जायगा।

काव्यमें जो भूलें हमें मालूम पड़ेंगी, इतिहासमें हम उनका संशोधन कर लेंगे। किन्तु जो व्यक्ति काव्य ही पढ़ेगा और इतिहासको पढ़नेका अवसर नहीं पाएगा, वह हतभाग्य है और जो व्यक्ति केवल इतिहासको ही पढ़ेगा और काव्यके पढ़नेके लिए अवसर नहीं पाएगा, सम्भवतः उसका भाग्य और भी मन्द है।

कवि-जीवनी

कवि टैनिसनके पुत्रने अपने परलोकगत पिताकी चिट्ठी-पत्री तथा जीवनीको दो बड़ी बड़ी जिल्दोंमें प्रकाशित किया है।

प्राचीन कवियोंके जीवनका विस्तृत विवरण खोजनेसे भी नहीं मिलता। उस समय लोगोंको जीवनचरितका शौक नहीं था। इसके सिवाय उस समय बड़े और छोटे सभी लोग ही इस समयकी अपेक्षा अप्रकाशित रूपमें रहते थे। चिट्ठी-पत्री, समाचारपत्र, सभा-समिति, साहित्यके वाद-विवाद इतने अधिक नहीं थे, इसलिए प्रतिभाशाली व्यक्तियोंके जीवन-व्यापारोंको नानाप्रकारसे प्रतिफलित देखनेका सुयोग उस समय नहीं मिलता था।

बहुतसे घूमनेवाले लोग बड़ी बड़ी नदियोंके स्रोतस्थानोंको खोजनेके लिए दुर्गम स्थानोंपर गए हैं। बड़ी बड़ी काव्य-नदियोंके स्रोतोंको भी खोजनेके लिए कौतूहल होता है। आधुनिक कवियोंके जीवनचरितोंसे इस कौतूहलकी निवृत्ति हो सकती है, ऐसी मनमें आशा पैदा होती है। ऐसा मालूम होता है कि आधुनिक समाजमें कविके छिपे रहनेके लिए अब कोई स्थान नहीं रह गया है। जिस शिखरसे काव्य-स्रोतकी उत्पत्ति होती है, वहाँ तक रेलगाड़ी चल रही है।

इसी आशासे मैंने बड़े आग्रहसे पुस्तकके दोनों बड़े खण्डोंको समाप्त कर डाला। किन्तु कविका काव्य-स्रोत किस गुफासे प्रवाहित हुआ है, इसका तो खोजनेसे भी पता नहीं लगा। यह टैनीसनका जीवनचरित हो सकता है; किन्तु कविका जीवनचरित नहीं है। हम इस पुस्तकके द्वारा यह नहीं समझ सके कि कविने कब मनुष्य-हृदयके समुद्रके अन्दर जाल डालकर इतने ज्ञान और भावोंका आहरण कर लिया और कहाँ बैठकर विश्व-सङ्गीतके स्वरोंको अपनी बाँसुरीपर अभ्यास करके बजा दिया?

कविने जिस प्रकार कविताकी रचना की है, उस प्रकार अपने जीवन-चरितकी रचना नहीं की। क्योंकि उसका जीवन काव्य नहीं है। जो कर्मवीर हैं, वे अपने जीवनकी स्वयं सृष्टि करते हैं। जिस प्रकार कवि भाषाकी बाधाके बीचमेंसे छन्दको गूँथ लेते हैं, जिस प्रकार सामान्य भावको असामान्य स्वर और छोटीसी बातको बड़ा अर्थ प्रदान करते हैं, उसी प्रकार कर्मवीर संसारकी कठिन बाधाओंके बीचमें अपने जीवनके छन्दका निर्माण करते हैं और चारों ओरकी क्षुद्रताको अपने अपूर्व शक्ति-बलसे बड़ा बना लेते हैं। वे अपने पास जिन सामान्य वस्तुओंको पाते हैं, उन्हींके द्वारा अपने जीवनको महान् बनाते हैं और उन वस्तुओंको भी बड़ा बना डालते हैं। उनके जीवनका कर्म ही उनका काव्य है, इसलिए मनुष्य उनकी जीवनीकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

किन्तु कविका जीवन मनुष्यके किस काममें आएगा? उसमें कौन सी स्थायी वस्तु है? कविके नामके साथ बाँधकर उसके जीवनको बड़ा बनानेसे क्षुद्रको बड़े आसनपर बिठाकर लज्जित करना है। जीवनचरित महापुरुषोंका होता है और काव्य महाकवियोंका।

कोई विलक्षण प्रतिभाशाली व्यक्ति काव्य और जीवनके कर्म दोनोंमें ही अपनी प्रतिभाको विकसित कर सकता है, काव्य और कर्म दोनों उसकी एक ही प्रतिभाके फल होते हैं। काव्य और उसके जीवनको यदि हम एकत्रित करके देखें, तो उसका अर्थ विस्तृततर और भाव गहनतम हो जाते हैं। दाँते (Dante) के काव्यमें दाँतेका जीवनचरित मिला हुआ है। दोनोंको यदि हम इकट्ठा करके पढ़ें, तो जीवन और कार्यकी सीमा अच्छी तरह दिखाई देती है।

टैनीसनका जीवन उस प्रकारका नहीं है। वह एक सज्जनका जीवनचरित अवश्य है; परन्तु उसका कोई भी अंश प्रशस्त, बृहत् और विचित्रफलशाली नहीं है। वह उसके काव्यके साथ समान वजन नहीं रखता। परन्तु उसके काव्यमें जिस अंशमें संकीर्णता है, विश्वव्यापकताका अभाव है, आधुनिक विलायती सभ्यताके दूकान-कारखानोंकी ताजी गन्ध कुछ अधिक मात्रामें है, उसकी जीवनीके अन्दर उस अंशका तो प्रतिबिम्ब पाया जाता है;

किन्तु जिस अंशमें वह विराट् है, जिस अंशमें उसने मनुष्यके साथ मनुष्यको, सृष्टिके साथ सृष्टिकर्त्ताको, एक उदार संगीतके राज्यमें समग्ररूपसे दिखाया है, उसका वह महान् अंश जीवनीके अन्दर प्रकाशित नहीं हुआ है।

हमारे प्राचीन भारतवर्षके किसी भी कविका जीवनचरित नहीं मिलता। उसके लिए हमें कौतूहल सदा रहेगा; किन्तु उसके लिए हम दुःखित नहीं हैं। वाल्मीकिके विषयमें जो कथा प्रचलित है, उसको इतिहासके रूपमें कोई भी नहीं मानेगा; परन्तु हमारी सम्मतिमें कविका वही सच्चा इतिहास है। वाल्मीकिके पाठक वाल्मीकिके काव्यसे जिस जीवनचरितकी सृष्टि करते हैं, वाल्मीकिके प्रकृत जीवनकी अपेक्षा वही अधिक सच्ची है। किस चोटके द्वारा वाल्मीकिके हृदयसे काव्यका झरना बाहर फूट पड़ा था? करुणाकी चोटसे। रामायण करुणाके आँसुओंका निर्झर है। विरही क्रौञ्चका शोकार्त्त विलाप रामायणकी कथाके मर्मस्थलमें गूँज रहा है। रावणने भी व्याधके समान दो प्रेमियोंको अलग अलग कर दिया है और लङ्काकाण्डका युद्ध उन्मत्त विरहीके पंखोंकी फड़फड़ाहट है। रावणने जिस विच्छेदको पैदा किया था, वह मृत्युके विच्छेदकी अपेक्षा भी भयानक था। मिलनके बाद भी उस विच्छेदका प्रतिकार नहीं हुआ।

सुखका आयोजन कैसा सुन्दर हो रहा था! पिताका स्नेह, प्रजाकी प्रीति, भाइयोंका प्रेम, और उसीके बीच नवविवाहित राम सीताका मिलन। यौवराज्यका अभिषेक इस सुख-सम्भोगको सम्पूर्ण और महीयान् बनानेके लिए ही उपस्थित हुआ था। ठीक इसी समय व्याधने तीर खींचा और वह सीता-हरणके समय लगा। उसके बाद अन्त तक विरहकी कहीं समाप्ति नहीं हुई। दाम्पत्य सुखके बिलकुल प्रारम्भके समय ही दाम्पत्य सुखकी समाप्ति हो गई।

क्रौञ्च-मिथुनकी कहानी रामायणके मूलभावका ही एक संक्षिप्त रूपक है। मोटी बात इतनी ही है। लोगोंने निस्सन्देह यह सत्य आविष्कृत किया है कि महाकविका निर्मल अनुष्टुप्-छन्दोंका प्रवाह करुणाकी गर्मीसे ही पिघलकर प्रवाहित हुआ है। दाम्पत्यप्रेमके असामयिक चिरविच्छेदने ही ऋषिके करुणार्द्र कवित्वको उन्मथित कर दिया है।

और दूसरी कहानी रत्नाकरकी है। वह एक और ही भावको दिखानेवाली है। रामायणका काव्य किस प्रकारका है, इसकी यह एक दूसरी समालोचना है। इस कहानीद्वारा हमें पता लगता है कि राम और सीताके विच्छेद-दुःखकी अपरिसीम करुणा ही रामायणका प्रधान अवलम्बन नहीं है—उसका कारण रामचन्द्रके चरित्रके प्रति भक्ति है। रामका ऐसा चरित्र है कि उसने एक डाकूको कवि बना दिया है—भक्तिकी ऐसी प्रबलता है! रामायणका राम भारतवर्षकी आँखोंको कितने बड़े रूपमें दिखाई देता है, उसीको मानों इस कहानीने माप दिया है।

इन दोनों कहानियोंसे पता लगता है कि प्रतिदिनकी बातचीत, चिट्ठी-पत्री, मिलने जुलने, काज-कर्म और शिक्षा-दीक्षाके अन्दर कवित्वकी जड़ नहीं है। उसकी जड़ एक महान् आवेगका सञ्चार है; मानों वह एक अलौकिक आकस्मिक आविर्भावके समान है—वह कविके ज्ञानसे अतीत है। कविकङ्कणने जो काव्य लिखा है, वह भी स्वप्नमें आदिष्ट होकर देवीके प्रभावसे लिखा है।

कालिदासके विषयमें जो कहानी प्रचलित है, वह भी इसी प्रकारकी है। वह मूर्ख, अरसिक और एक विदुषी स्त्रीकी हँसीका पात्र था। वह अकस्मात् दैवके प्रभावसे कवित्व रससे पूर्ण हो गया। वाल्मीकि निष्ठुर डाकू था और कालिदास एक अरसिक मूर्ख था, दोनोंका एक ही तात्पर्य है। वाल्मीकिकी रचनामें दयापूर्ण पवित्रता और कालिदासकी रचनामें रसपूर्ण विदग्धताकी अद्भुत अलौकिकताको प्रकाशित करनेका ही यह एक प्रयत्न है।

लोगोंने इन कहानियोंको कविके जीवनसे नहीं, अपि तु काव्यसे संगृहीत किया है। कविके जीवनमेंसे जो वास्तविक बातें मिलतीं, उनका कविके काव्यके साथ कोई गम्भीर और चिरस्थायी मेल न होता। वाल्मीकिका प्रतिदिनका चरित्र उनकी रामायणके साथ कदापि तुलनीय न हो सकता। क्योंकि उनके अन्य सब कार्य सामयिक और अनित्य थे। रामायण उनके अन्तर्गत नित्य प्रकृतिकी, समग्र प्रकृतिकी सृष्टि है, वह एक अनिर्वचनीय और अपरिमेय शक्तिका विकास है। वह अन्य कर्मोंके समान क्षणिक चञ्चलतासे उत्पन्न नहीं हुई है।

टैनीसनके काव्यके जीवन-चरितको भी थोड़ासा लिखा जा सकता है। वास्तविक जीवनके लिए उसका कोई आधार नहीं है; किन्तु काव्य-जीवनके लिए उसका आधार है। कल्पनाके सिवाय उसे सत्य नहीं कहा जा सकता। उससे लेडी शैलेट और राजा आर्थरके समयके साथ विक्टोरियाके समयका विचित्र रीतिसे मिश्रण होगा; उससे मार्लिनका जादू और विज्ञानका आविष्कार एकत्रित हो ा। वर्त्तमान युगने बचपनमें ही उसे विमाताके समान कल्पनाके जङ्गलमें निर्वासित कर दिया था। वहाँ उसने प्राचीन कालके भग्न दुर्गके बीचमें अकेले रहकर किस प्रकार अलादीनके दीपकको प्राप्त कर लिया, किस प्रकार राजकन्याके साथ उसका मिलन हो गया, किस प्रकार प्राचीन कालकी सम्पत्तिको लेकर वह वर्तमान कालके अन्दर राजवेशमें प्रविष्ट हुआ, इस लम्बी कहानीको लिखा नहीं गया है। यदि लिखा जाता तो एक व्यक्तिके साथ दूसरे व्यक्तिके लिखनेमें एकता न होती और टैनीसनका जीवनचरित भिन्न भिन्न लोगोंके मुखमें नए नए रूपोंको धारण करता।

समाप्त